हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

२२००

लेखक

ऋषिगोपाल

भारतीय संस्कृत भवन

जालन्धर शहर

हिन्दी

के

महान् साहित्य-सेवी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

को

सेवा में

सादर साञ्जलि

समर्पित

आमुख

भाषाविज्ञान एक वैज्ञानिक विषय है और इसे समझने के लिये पारिभाषिक ज्ञान अपेक्षित है। यह विषय प्रायः जटिल तथा दुर्बोध माना जाता है; परन्तु इसे सरल बनाना भाषाशास्त्रियों का ही उद्देश्य है। श्री ऋषिगोपाल का 'हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन' इस दिशा मे सफल प्रयास है। लेखक ने न केवल भाषाविज्ञान सम्बन्धी नवीनतम खोजो तथा पद्धतियो का गभीर अनुशीलन किया है वरन् इन के निष्कर्षो का प्रतिपादन उच्च कक्षा के विद्यार्थियो के लिये सरल शैली म किया है जिससे पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि हुई है। आधुनिक युग म भाषाविज्ञान का वैज्ञानिक अनुसन्धान प्रायः पाश्चात्य देशो मे अधिक हो रहा है और इस अनुसन्धान का सूत्रपात भारत मे भी हो चुका है। लेखक ने भाषा सम्बन्धी अपने ज्ञान को विस्तृत बनाने के लिये तथा नवीनतम खोजों से अवगत होने के लिये भारत में नियोजित उन गोष्ठियों में सक्रिय भाग लिया है जिससे वह अपने शिष्यो को अधिक लाभ पहुचा सके। प्रस्तुत पुस्तक उनके अध्ययन तथा इन गोष्ठियो मे प्राप्त भाषा सम्बन्धी अनुभव एवं ज्ञान का सार है। इतनी जटिल तथा विस्तृत सामग्री को सरल भाषा मे प्रस्तुत करने का ढग लेखक का अपना है। इस पुस्तक की मुख्य विशेषता को यदि संक्षिप्त रूप में व्यक्त किया जाए तो यह कहना पडेगा कि एक साथ ही भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धातो तथा हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास और विश्लेषण पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के अन्त मे हिन्दी की वाक्य-योजना पर गंभीर विचार किया गया है जिसका अभाव अन्य भाषा सम्बन्धी पुस्तको मे खटकता है। पुस्तक के परिशिष्ट मे देवनागरी लिपि की समस्या पर भी नवीनतम लिपि सुधारों को दृष्टिगत रखते हुए

लेखक ने निजी विचारों का प्रतिपादन किया है। एक ही ग्रन्थ में भाषा-सम्बन्धी विविध पक्षों का विवेचन इस की मुख्य विशेषता है। एम० ए० श्रेणी के विद्यार्थियों तथा सामान्य पाठकों के लिये यह पुस्तक अवश्य उपयोगी सिद्ध होगी---ऐसी मेरी धारणा है।

इन्द्र नाथ मदान
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय

जालन्धर
अगस्त १, १९६०

दो शब्द

किसी भी विषय का समुचित प्रसार उस विषय पर लिखी पुस्तकों पर आधारित होता है। जहा अंग्रेजी आदि भाषाओं में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी उत्कृष्ट कोटि का साहित्य विद्यमान है वहा भारतीय भाषाओं में भाषा विज्ञान की अच्छी पुस्तकें बहुत कम हैं। इस दृष्टि से हिन्दी की स्थिति भी कोई विशेष अच्छी नहीं। भाषाविज्ञान की जो पुस्तकें हिन्दी में हैं भी उनमे से अधिकाश पुस्तकों में या तो केवल सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन है अथवा केवल हिन्दी के विकास-क्रम का निदर्शन ही है। उसके अतिरिक्त भारोपीय से वैदिक सस्कृत अथवा आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के विकास-क्रम की रूपरेखा का स्वरूप भी बहुत कम पुस्तकों में देखने को मिलता है। इससे कई बार भाषा-विज्ञान के अध्ययन में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य हिन्दी भाषाविज्ञान के साथ सम्बन्धित सभी मुख्य अङ्गों का विवेचन एक साथ प्रस्तुत कर उस कठिनाई को दूर करना है।

प्रस्तुत पुस्तक देश-विदेश की अनेक उच्चकोटि की पुस्तकों का आधार ग्रहण करके लिखी है। मैंने देश-विदेश के अनेक विद्वानों से व्यक्तिगत रूप में भी बहुत कुछ सीखा है। उनमे से डा० सुकुमारसेन, डा. एस. एम. कत्रे, डा. ए. एम. घाटगे, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० पी. बी. पंडित, डा. उदयनारायण तिवारी, प्रो. गार्डन एच. फेयरबैंक्स, प्रो. एम. बी. इमेनू, डा. ले लिस्कर, डा० एम. ए. मेहन्दले जैसे उच्चकोटि के विद्वानों का लेखक विशेष ऋणी है। पिछले दिनों पूना में डा० सुकुमार सेन, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनारायण तिवारी और डा० एम. ए. मेहन्दले ने प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में जानकर अपना आशीर्वाद भी दिया। उसके लिये लेखक उनका और भी अधिक आभारी है। वस्तुत. यह पुस्तक विद्वानों और

पूज्य आचार्यो की कृपा और आशीर्वाद का ही फल है। इस सम्बन्ध मे मैं नही जानता कि मैं किन शब्दों में डा० इन्द्रनाथ मदान और प्रिंसिपल सूर्यभानु का धन्यवाद करूं क्योंकि उनकी प्रेरणा, कृपा और सहयोग ही तो मेरी अमूल्य निधि है।

इनके अतिरिक्त इस पुस्तक के लिखने और प्रकाशित करने में मुझे अनेक साथियो, मित्रो और बन्धुओ का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उनमे सर्वश्री दिनेश प्रसाद शुक्ल, एच ए ढोलकिया, एस. एम. झंगियानी, शान्ति आचार्य जैसे अनेक सुलझे हुए मस्तिष्क के व्यक्ति हैं जिनके नामों की एक बहुत लम्बी सूची ही तैयार हो जायेगी। मैंने अपने विद्यार्थियो से बहुत कुछ सीखा है—उनका तथा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे सहयोग देने वाले सभी व्यक्तियों का मैं कृतज्ञ हूं।

अन्त मे, श्री कृष्णानन्द शास्त्री के सम्बन्ध मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होने अनथक लगन और परिश्रम के साथ इस पुस्तक को मुद्रित और प्रकाशित कराया है। उनके बिना सम्भवतः यह पुस्तक इतने सुन्दर रूप मे प्रकाशित न हो पाती। श्रीमती मोतिया प्रियदर्शिनी और सुभाष को तो धन्यवाद देने का प्रश्न ही नही उठता।

अनेक महानुभावो के सहयोग और परिश्रम से यह पुस्तक आपके हाथो मे है। कुछेक स्थानो पर कुछ गलतियाँ भी रह गई हैं। विज्ञ पाठक उन्हें यथास्थान संशोधित करके ही पढ़ने का कष्ट करें। अगले संस्करण में इन गलतियो को सर्वथा दूर कर दिया जायेगा। इस पुस्तक के सम्बन्ध में जो भी सुझाव प्राप्त होंगे उनका सहर्ष स्वागत किया जायेगा।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, २०१७ — ऋषिगोपाल

डी. ए. वी. कालेज
जालन्धर

विषय-सूची

भाग १

भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्त

भाग १

भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्त

अध्याय १

भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन

भाषा और मानव-समाज का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव के सभी सामाजिक सम्बन्ध भाषा की भित्ति पर ही आधारित हैं। यदि भाषा न होती तो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ वैसा सम्बन्ध स्थापित न हो पाता जैसा भाषा के आधार पर स्थापित है। संसार के सभी मनुष्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये किसी न किसी भाषा का व्यवहार करते हैं। इसी के बल पर सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। विश्व की सम्पूर्ण प्रगति इसी पर आधारित है।

जिस भाषा का हमारे जीवन के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है—हम प्रायः उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपनी मातृभाषा अपने आप सीख जाते हैं और विदेशी भाषा सीखने के लिये हमें विशेष परिश्रम करना पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मातृभाषा के व्याकरण-शुद्ध रूप अथवा साहित्यिक रूप को समझने के लिये भी विशेष परिश्रम की आवश्यकता अनुभव की जाती है तथापि हम भाषा का अध्ययन अन्यान्य विषयों को समझने के साधन रूप से करते हैं। भाषा को साध्य मान कर उसके वैज्ञानिक अध्ययन की ओर हमारा विशेष आकर्षण नहीं होता। अधिकांश में भाषा एक माध्यम के रूप में स्वीकार की जाती है और इसे इस स्तर से कोई विशेष ऊपर नहीं उठाया जाता।

भाषा अपने आप में भी एक स्वतन्त्र विषय है। उस का वैज्ञानिक अध्ययन भी उतना ही महत्त्व पूर्ण है जितना उसके माध्यम से अन्य

विषयों का अध्ययन। भारतवर्ष में प्राचीन काल से भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। इस समय तक विश्व के साहित्य की जितनी जानकारी हमें है उसे दृष्टिगत रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि सब से पहले हमारे देश में ही भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर ध्यान दिया गया। हमारे देश के प्राचीनतम वाङ्मय वैदिक-साहित्य में इस विषय के उल्लेख मिलते हैं।[1] वेद मन्त्रों को अपने मूल रूप में सुरक्षित रखने की प्रबल इच्छा के कारण वैदिक भाषा का विस्तृत अध्ययन किया गया और इसी से सम्बन्धित बहुमूल्य विशाल वाङ्मय का निर्माण किया गया। संस्कृत भाषा का जैसा वैज्ञानिक अध्ययन हमारे देश में किया गया वैसा अध्ययन किसी भी अन्य भाषा के सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं होता। संस्कृत के महान् व्याकरणकारों विशेषतया पाणिनि की प्रशंसा विश्व के सभी विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से की है।[2] हमारे पूर्वजों ने न केवल मानवीय-

---

1. कृष्ण यजुर्वेद संहिता में लिखा है ' वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति, सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।'' तैत्तिरीय संहिता ६—४, ७।

2. The Importance of the grammarians in the history of Sanskrit is unequalled anywhere in the world. Also the accuracy of their linguistic analysis is unequalled until comparatively modern times. The whole of the classical literature of Sanskrit is written in a form of language which is regulated to the last detail by the work of Panini and his successors." T. Burrow The Sanskrit Language (Page 47) "The Hindus, moreover were excellent phoneticians and interpreted the written symbols in physiologic terms." Leonard Bloomfield Language (Page 296).

भाषा का अध्ययन किया बल्कि पशु-पक्षियों तक की भाषाओं के अध्ययन की ओर उनका ध्यान था।[1] भाषा-सम्बन्धी जिज्ञासा की भावना भी उतनी ही प्रबल और विस्तृत थी जितनी अन्यान्य आत्मिक और भौतिक विषयों को हृदयगम करने की तीव्र लालसा। हमारा यह सौभाग्य है कि इस विस्तृत परम्परा का कुछ अश अभी तक स्थिर और विद्यमान है।

इसी प्रकार विश्व के अन्यान्य देशों में भी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर प्राचीन काल में विशेष ध्यान दिया जाता था। इस सम्बन्ध में ग्रीक-साहित्य विशेष उल्लेखनीय है।

आधुनिक युग मे भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर जितना अधिक ध्यान पाश्चात्य देशों मे दिया गया है उतना हमारे देश मे नहीं। यद्यपि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र मे अपनी प्राचीन विस्तृत परम्परा के कारण सस्कृत विशेषतया वैदिक भाषा अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है तथापि यह देख कर अत्यन्त दुःख होता है कि अपने देश की प्राचीन परम्पराओं को सजीव, सुरक्षित और विकसित करने मे उतना परिश्रम भारतवासियों द्वारा नहीं किया जा रहा। सस्कृत तथा अन्य प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा विभिन्न पश्चिमी देशों में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में बहुमूल्य कार्य किया जा रहा है। हमारे देश मे इस विज्ञान के अध्ययन को न तो उतना महत्व दिया जा रहा है और न साधारणतया लोगों की रुचि ही इस विषय की ओर दिखाई देती है।

भारतवर्ष में किसी भाषा के साहित्य विषय के साथ ही थोड़ा बहुत भाषाविज्ञान का अध्ययन किया जाता है। साहित्य के अन्यान्य सरस विषयों की तुलना में यह विषय अत्यन्त शुष्क, नीरस और जटिल दिखाई देता है। कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना आदि साहित्यिक विषयों में तो

1. पातञ्जल योग सूत्र में लिखा है, "शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सकरस्तत्प्रविभागसयमात् सर्वभूत रुत-ज्ञानम्" विभूतिपाद ३—१७।

किसी भी सहृदय व्यक्ति की वृत्ति पूर्णतया रम जाती है परन्तु भाषा विज्ञान की वैज्ञानिक शुष्कता कभी कभी तो साहित्य का अध्ययन करने वाले के लिये बड़ी उबाऊ मुश्किल हो जाती है। भाषा-विज्ञान में वही कलात्मक सौन्दर्य अथवा आकर्षण नहीं दिखाई देता। साधारण भाषा-विज्ञान की पुस्तक में विचित्र शब्दों और उनके विलक्षण उच्चारण-रूपों को देखकर ही उसे खोलने का साहस नहीं किया जाता। इस में कोई सन्देह नहीं कि *भाषा-विज्ञान का विषय वैज्ञानिक अध्ययन के साथ सम्बन्धित है* और इस विषय में सभी व्यक्तियों की रुचि नहीं हो सकती, फिर भी इस विषय की अधिकांश उपेक्षा अत्यन्त असह्य मानी जा सकती है।

हमारे देश में भाषा सम्बन्धी अध्ययन की जो विशाल परम्परा विद्यमान है उसे आगे बढ़ाना तो सभी देशवासियों का न केवल कर्तव्य है बल्कि उत्तरदायित्व भी है। किसी भी विषय को केवल जटिल कहकर छोड़ देना या उस की उपेक्षा करना बुद्धिमत्ता का चिह्न नहीं कहा जा सकता वस्तुत: जटिलता या कठिनाई का सामना तो सभी विषयों में करना ही पड़ता है। जिसे आज हम सरल से सरल कार्य समझते हैं वही प्रारम्भ में अत्यन्त जटिल था परन्तु निरन्तर अभ्यास से उसकी सारी जटिलतायें दूर हो जाती हैं। हम साधारणतया मातृ-भाषा का सीखना सहज और स्वाभाविक मानते हैं, परन्तु छोटे से बच्चे को भाषा के अभाव में कितना संघर्ष करना पड़ता है और *उसे सीखने के लिये वह कितना प्रयत्न करता है*—यदि इसका विश्लेषण किया जाय तो निश्चय ही यह पता चल जायेगा कि यह कार्य उसके लिये कितना जटिल और प्रयत्नसाध्य था। यही बात भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। विज्ञान की प्रगति के कारण जहां भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है और नई नई जटिलतायें भी बढ़ती जा रही है वहां बहुत सी प्रारम्भिक कठिनाईयां भी लुप्त होती जा रही है और कई जटिलतायें सरलता का भी रूप धारण करती जा रही है।

प्राय: हम किसी विषय का अध्ययन उपयोगिता और अनुपयोगिता की तराजू पर तोल कर ही करना चाहते हैं। भाषा-विज्ञान एक वैज्ञानिक विषय है उसे उपयोगिता और अनुपयोगिता की सङ्कुचित परिधि में लाना उचित नहीं। मानव का मस्तिष्क ज्ञान की अमित पिपासा से आक्रान्त है। मानव सब कुछ जान लेना चाहता है। उसकी यह जिज्ञासा अनन्त काल से अतृप्त रही है परन्तु फिर भी वह अपने क्षेत्र को बढ़ाता चला जा रहा है। किसी दिन तो वह सभी रहस्यों का परिचय प्राप्त कर ही लेगा। भाषा-विज्ञान भी वैज्ञानिक आधार पर मानव-मस्तिष्क की जिज्ञासा को बढ़ाने और तृप्त करने का प्रयास करता है। यही उसकी सबसे बड़ी उपयोगिता है।

सम्भव है बहुत से लोग उपयोगिता की इस कसौटी को ठीक न समझें। यदि वे भारतवर्ष की भाषा सम्बन्धी स्थिति की ओर देखें तो उन्हें भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव होने लगेगी। भाषा की वास्तविक वैज्ञानिक स्थिति न समझ सकने के कारण कितनी भाषा-समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। हम चाहे एक भाषा सीखें चाहे अनेक भाषायें सीखलें परन्तु जब तक हमारा ध्यान भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर नहीं जाता तब तक इस प्रकार की समस्यायें किसी न किसी रूप में अवश्य उठती रहेंगी। इस प्रकार के विवाद भी उठते ही रहेंगे। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की अधिकांश उपेक्षा का ही यह परिणाम है।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन से भाषा के क्षेत्र में दृष्टिकोण व्यापक ौर विस्तृत हो जाता है। आन्दोलनात्मक संकुचित सीमायें नष्ट हो जाती । यही कारण है कि मनुष्य कूपमण्डूकात्मक विचारों को छोड़कर उदारता ी ओर उन्मुख हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा का वैज्ञानिक ध्ययन कोई जादू का डण्डा नहीं है जिसके बल पर भाषा की सारी मस्यायें दूर की जा सकती हों फिर भी इतना निश्चित है कि भाषा के ैज्ञानिक अध्ययन से उस संकुचित दृष्टिकोण को अवश्य दूर किया जा

सकता है जिसके कारण हमारी आंखों के आगे ऐसा आवरण सा छा जाता है कि हम निष्पक्ष रूप में सत्य और असत्य का निर्णय नहीं कर पाते। सत्य कभी कभी अत्यन्त कटु भी हो सकता है परन्तु प्रिय लगने वाले असत्य से वह कई गुना अधिक अच्छा होता है। सत्य को कटु कहने वाले व्यक्ति का अपना ही दृष्टिकोण इतना संकुचित होता है कि वह सत्य की व्यापकता को नहीं समझ पाता। इसी संकुचित दृष्टिकोण को दूर कर मानव मस्तिष्क को व्यापक सत्य से परिचित कराना भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का ही कार्य है।

सामान्य तौर पर जो शास्त्र अथवा विज्ञान उपयोगी और अत्यन्त आवश्यक माने जाते हैं उनके साथ भाषा-विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से कुछेक शास्त्र तो ऐसे हैं जिनके साथ भाषा-विज्ञान की इतनी घनिष्ठता है कि उनके भाषा-विज्ञान के साथ अन्तर को समझाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व व्याकरण की एक तुलनात्मक शाखा के रूप में ही भाषा-विज्ञान का अध्ययन किया जाता रहा है परन्तु व्याकरण और भाषा-विज्ञान परस्पर एक दूसरे के सहायक होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। व्याकरण स्थिर भाषा के नियम निर्धारित कर देता है पर भाषा विज्ञान स्थिर भाषा में होने वाले अवश्यम्भावी परिवर्तनों की व्याख्या करता है। इसीलिए भाषाविज्ञान को व्याकरण की व्याख्या कहा जाता है। व्याकरण का सम्बन्ध भाषा के 'क्या होना चाहिए' पक्ष के साथ है तो भाषाविज्ञान का सम्बन्ध भाषा के 'क्या होता है' पक्ष के साथ है। दोनों ही अपने अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि भाषाविज्ञान का क्षेत्र व्याकरण की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। व्याकरण किसी कालविशेष की एक ही भाषा से सम्बन्धित होता है परन्तु भाषाविज्ञान का क्षेत्र सारे संसार की भाषायें हैं। उसमें समय का भी कोई बन्धन नहीं। व्याकरण भाषाविज्ञान का बहुत ऋणी भी है क्योंकि भाषा-विज्ञान द्वारा की गई व्याख्याओं को व्याकरण धीरे धीरे आत्मसात् कर लेता है।

इसी प्रकार मानवीय विचारों और भावों के साथ सम्बन्धित होने के कारण भाषाविज्ञान का मनोविज्ञान से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य का तो यह एक *विशेष अङ्ग ही माना जाता है। भाषा एक सामाजिक* सम्पत्ति है इसलिए समाज शास्त्र के साथ इसका विशुद्ध सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इतिहास के साथ भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध को बताते हुए डा० श्यामसुन्दर दास के ये शब्द विशेष उल्लेखनीय हैं-"वह उस समय का इतिहास लिखने में सहायक होता है जिस समय का इतिहास स्वयं इतिहास को भी ज्ञात नहीं है।" भाषा-विज्ञान प्रागैतिहासिक खोज में सम्बन्धित एक स्वतन्त्र विषय बन चुका है। इसके आधार पर इतिहास की कई खोई हुई कड़ियों को जोड़ने का प्रयत्न किया जा रहा है और इस प्रयास में भाषाविज्ञानियों को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इसी प्रकार भूगोल और मानव शास्त्र के साथ भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आधुनिक युग में भाषाविज्ञान के साथ एक नया विषय वैज्ञानिक आधार पर शब्द-लहरियों (Sound-waves) का अध्ययन भी जुड़ गया है। यह अध्ययन अभी तक भौतिक-विज्ञान (Physics) की एक शाखा (Acoustics) के अन्तर्गत किया जाता रहा है। प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान में इसी के अनुसार अध्ययन करके ध्वनि के वैज्ञानिक अनुसन्धान में महत्त्वपूर्ण प्रगति की जा रही है।

ऊपर जिन शास्त्रों और विज्ञानों का उल्लेख किया गया है उनसे भाषाविज्ञान का आदान प्रदान दोनों चलता रहता है। अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में तो वे एक दूसरे पर निर्भर भी दिखाई देते हैं इसीलिए इन महत्त्व-पूर्ण शास्त्रों के समान ही इसकी भी उपयोगिता अनिवार्य रूप से मान्य है। एक शरीरविज्ञान ही ऐसा है जिससे भाषाविज्ञान कुछ लेता ही है देता नहीं। ध्वनि यन्त्र के शारीरिक अवयवों का ज्ञान भाषाविज्ञान की दृष्टि से तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है परन्तु भाषाविज्ञान ने अभी तक शरीर-विज्ञान के अध्ययन के लिए कुछ प्रदान नहीं किया है।

जिस विज्ञान का सम्बन्ध मानव-ज्ञान की इतनी महत्त्व पूर्ण शाखाओं के साथ है उसकी यू ही उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे देश की विचार धारा में ज्ञान का स्वतन्त्र महत्त्व रहा है। ज्ञान के अनन्त और अपार भण्डार को भरने के लिए भाषा-विज्ञान का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है। कम से कम हमारे देश में तो इसके अध्ययन की अत्यधिक आवश्यकता है।

भाषा विज्ञान

भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन हीं भाषा-विज्ञान है। भाषाविज्ञान की सक्षेप मे यही परिभाषा है। भाषा-विज्ञान मे आने वाले विभिन्न विषयो का उल्लेख करते हुए कभी कभी इस परिभाषा को विस्तृत कर दिया जाता है और कभी कभी भाषा-विज्ञान के किसी एक विषय पर अधिक बल देने के कारण परिभाषा मे उसी विषय का विस्तृत स्वरूप स्पष्ट कर दिया जाता है वस्तुतः भाषा विज्ञान के किसी विशेष विषय को अधिक महत्त्वपूर्ण मान उसी के आधार पर उसकी परिभाषा करना ठीक नहीं। इतना कहना पर्याप्त है कि भाषा-विज्ञान मे भाषा का सर्वाङ्गीन विवेचन और विश्लेषण वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है।

पाश्चात्य देशो मे भाषा-विज्ञान के अनेक नाम प्रचलित रहे हैं। सबसे पहला नाम फाइलालोजी प्राप्त होता है। भाषा-विज्ञान का अध्ययन ग्रीक,लैटिन आदि साहित्यिक भाषाओं के अध्ययन से प्रारम्भ हुआ था इसी लिये भाषा-विज्ञान का साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता था। फाइलालोजी का अर्थ ही साहित्यिक दृष्टिकोण से भाषा का अध्ययन है।[1] बाद मे भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के कारण इसे कम्परेटिव फाइलालोजी कहा जाने लगा। व्याकरण के साथ इसके घनिष्ठ सम्बन्ध को देखते हुए और उससे इसका

1. P. D. Gune: An Introduction to Comparative Phylology.

अन्तर स्पष्ट करते हुए इसे कम्पैरेटिव ग्रामर (तुलनात्मक व्याकरण) का नाम भी दिया गया। फ्रान्स में इसे लिंग्विस्टिक (Linguistique) या लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) नाम दिया गया। बाद में इस के तुलनात्मक रूप को स्पष्ट करने के लिये इस के साथ कम्पैरेटिव शब्द को भी जोड़ दिया गया। जैसे जैसे भाषा-विज्ञान की वैज्ञानिकता स्पष्ट होने लगी वैसे वैसे इसका नाम साइन्स ग्राफ लैंग्वेज (Science of Language) भी स्पष्ट होने लगा। परन्तु यह नाम बडा होने के कारण अधिक प्रचलित न हो सका। कुछ अन्य नाम भी सुझाये गये जिन मे एफ जी. टॅकर (F G. Tucker) का बताया हुआ ग्लॉटोलोजी (Glottology) नाम भी है[1] परन्तु ये नाम अधिकतर प्रयोग मे नही आये। अधिकाश में लिङ्ग्विस्टिक्स और फाइलालोजी शब्द ही प्रचलित हैं—दोनों का अर्थ भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन है। हिन्दी मे भी तुलनात्मक भाषाशास्त्र, भाषाविचार, भाषा-शास्त्र, भाषातत्त्व, भाषाविज्ञान आदि शब्द प्रचलित रहे हैं परन्तु अधिकाश मे भाषा विज्ञान ही अधिक प्रयोग मे आता है और यही नाम है भी अधिक उपयुक्त।

विज्ञान है या कला

भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला – इस विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है परन्तु आधुनिक युग मे अधिकतर विद्वान् भाषा-विज्ञान को विज्ञान कहना अधिक उचित समझते हैं। आज का युग विज्ञान का युग माना जाता है विज्ञान ने हमारे सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है इसी लिये आज कल कला अथवा शास्त्र रूप मे मानी जाने वाली अनेक सामाजिक अध्ययन की शाखाओ को विज्ञान का नाम दे दिया गया है। यही कारण है कि हम समाज-शास्त्र, मनःशास्त्र, मानवशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि शब्दों मे भी शास्त्र के स्थान पर

1. Introduction to Natural History of Language.

विज्ञान शब्द का प्रयोग करने लगे है। अपने अपने शास्त्र की वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिये विज्ञान की विशिष्ट परिभाषायें भी की जाती हैं। कहा जाता है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है — १. स्वाभाविक २ प्रयत्न साध्य। स्वाभाविक ज्ञान दैवी शक्ति से प्राप्त अथवा प्रकृतिप्रदत्त माना जा सकता है। प्रयत्न साध्य ज्ञान को बुद्धि के बल पर प्राप्त करना होता है। कुत्ते को तैरने का ज्ञान स्वाभाविक है मनुष्य को इसके लिये प्रयत्न करना पड़ता है। बुद्धि के बल पर प्राप्त होने वाले प्रयत्नसाध्य ज्ञान के भी दो भेद माने जाते हैं—विज्ञान और कला। विज्ञान और कला का एक मूल अन्तर यही है कि विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान सार्वदेशिक या सार्वभौम होता है। पृथ्वी चलती है यह सत्य सभी देशो के लिये एकसमान है परन्तु कला का क्षेत्र सीमित होता है। कविता चित्र या सङ्गीत सार्वदेशिक नही होते। विज्ञान मे विकल्प के लिये कोई स्थान नही परन्तु कला हमेशा विकल्पयुक्त होती है। जो गीत या चित्र मुझे अच्छा लगे यह आवश्यक नही कि दूसरे के लिये भी वैसा हो। विज्ञान और कला का एक और अन्तर जो बहुत महत्त्वपूर्ण नही वह यह है कि विज्ञान का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्ति की भावना को तृप्त करना है और कला का उद्देश्य मनोरञ्जन अथवा उपयोगिता है।

यदि हम भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विचार करे तो हमे यह मानना पड़ेगा कि भाषा-विज्ञान के तथ्य सार्वदेशिक या विकल्परहित नही है। इसमे कोई सन्देह नही कि भाषा-विज्ञान अन्य विज्ञानो के समान केवल ज्ञान-पिपासा को तृप्त करता है परन्तु भाषा-विज्ञान के तथ्यो अथवा नियमो को निरपवाद निर्विकल्पक अथवा सार्वदेशिक नही कहा जा सकता। हमे इस विषय मे इस बात को अवश्य स्मरण रखना है कि उन्नीसवी शताब्दी मे भाषा अथवा ध्वनि सम्बन्धी नियमो के बनाये जाने के पूर्व भाषा विज्ञान को विज्ञान नही माना जाता था। बाद मे जब बॉप (Bopp) रास्क (Rask) और ग्रिम Grimm) ने ध्वनि सम्बन्धी नियमो की व्याख्या प्रस्तुत की तो इन नियमो की वैज्ञानिकता को देखते हुए भाषा-विज्ञान को विज्ञान का नाम दिया जाने लगा। इसमे कोई सन्देह नही कि ध्वनि-नियमो

के कारण भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे बहुत प्रगति हुई परन्तु इन नियमो को शुद्ध नही कहा जा सकता था। एक समय था जब योरप के नवीन वैयाकरण (Neo-grammarian) रूप मे विख्यात अनेक विद्वान् ध्वनि-नियमो को निरपवाद मानते थे। ये विद्वान सभी शब्दो की व्युत्पत्ति ढूढते हुए कुछ ध्वनि-नियमो की निरपवाद सत्ता स्वीकार करते थे। यदि किसी नियम का कही कोई अपवाद दिखाई दे जाता तो वे उसके लिये भी किसी नियम को ढूढने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार उनका विचार था कि भाषा का विकास अपने आप या सयोग वश नहीं होता बल्कि उस के भी कुछ प्राकृतिक नियमों के समान नियम हैं। कितना अच्छा होता कि उनकी यह बात ठीक होती। किसी भी भाषा के परिवर्तन की दिशा का विश्लेषण करते समय हमे अपवादो की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। उदाहरण के तौर पर सस्कृत मे धर्म' और 'कर्म' शब्द है। ये दोनों शब्द प्राकृत में परिवर्तित होकर 'धम्म' और 'कम्म' बने। हिन्दी मे 'कम्म' से 'काम' शब्द तो बना जैसे कि नियमो के अनुकूल है परन्तु 'धम्म' से धाम नहीं बना जो नियम के अनुसार बनना चाहिये था। भाषा मे परिवर्तन मानवीय प्रवृत्तियो के कारण होते हैं और मानवीय प्रवृत्तियो को सुनिश्चित नियमो मे नहीं बांधा जा सकता इसी लिये परिवर्तन के सामान्य और स्थिर नियम नहीं बनाये जा सकते।

यदि विज्ञान की निरपवाद और निर्विकल्प सत्ता को ही स्वीकार किया जाय तो भाषा-विज्ञान विज्ञान नहीं है परन्तु आज कल विज्ञान का अर्थ तथ्यो का सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण भी किया जाता है। चाहे इसे विज्ञान कह दिया जाय या वैज्ञानिक प्रवृत्ति—बात एक ही है। भाषा-विज्ञान मे तथ्यों के सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण की प्रवृत्ति बहुत अधिक देखने को मिलती है। किसी भी सामाजिक विज्ञान की अपेक्षा भाषा विज्ञान वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक विकसित है। विशेषतया भाषा-विज्ञान की एक शाखा ध्वनि-विज्ञान मे जो प्रगति की गई उसके कारण भाषा-विज्ञान विज्ञान के क्षेत्र मे अधिकाधिक प्रविष्ट होने लगा है और इसी के कारण भौतिक विज्ञान

के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध भी स्थापित होने लग गया है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिये प्रयोग-शालाओं तक की आवश्यकता अनुभव की जाने लग गई है। सम्भव है कि कुछेक वर्षों में हम भाषा के उन सूक्ष्म और रहस्यात्मक नियमों को भी समझने लग जायें जो निरपवाद और निर्विकल्प रूप में भाषा का नियमन करते हैं। भाषा के अध्ययन की प्रवृत्ति अधिकाधिक वैज्ञानिक होती जा रही है। जिस प्रकार ऋतुविज्ञान के नियम कई बार धोखा दे जाया करते हैं फिर भी उसे विज्ञान माना जाता है उसी प्रकार भाषा-विज्ञान को विज्ञान कहना ही अधिक उपयुक्त है।

विषय-विभाजन

भाषा विज्ञान में जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है भाषा का सामान्य अध्ययन किया जाता है। भाषा क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई भाषा में परिवर्तन किन कारणों से होते हैं इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भाषा के सामान्य सिद्धांतों के अन्तर्गत समझने और जानने का प्रयत्न किया जाता है। भाषा का विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषण तीन रूपों में किया जाता है—(१) वर्णनात्मक (Descriptive), (२) तुलनात्मक (Comparative), (३) ऐतिहासिक (Historical)

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा के सम्पूर्ण अङ्गों का विशिष्ट विवेचन किया जाता है। आजकल इस रूप का बहुत अधिक विकास किया जा रहा है। इसके अन्तर्गत अनेक ऐसी शाखायें विकसित होती जा रही हैं जिनका अपना स्वतन्त्र स्थान भी बनता जा रहा है।

तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अन्तर्गत एक से अधिक भाषाओं की तुलना की जाती है। वस्तुतः भाषा विज्ञान का आधुनिक अध्ययन इसी तुलनात्मक विशेषता के कारण ही इतनी अधिक प्रगति कर सका है। उन्नीसवीं शताब्दी तक तो भाषा विज्ञान अधिकांश में तुलनात्मक ही कहा जा सकता है। आजकल भी इसका महत्त्व वैसा ही बना हुआ है।

ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के अन्तर्गत किसी भाषा के ऐतिहासिक विकास का सर्वाङ्गीण विवेचन किया जाता है । अनेक भाषाओं के तुलनात्मक विवेचन से उनका ऐतिहासिक रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। भाषाओं का जितना इतिहास स्पष्ट है उससे लाभ उठा कर भाषा-विज्ञानी इतिहास की उन अस्पष्ट कड़ियों को भी जोड़ने का प्रयत्न करता है जो समय के आवर्त में कहीं खो गई हैं।

इन रूपों के भी दो पक्ष हो सकते हैं (१) सैद्धान्तिक पक्ष (२) व्यावहारिक पक्ष। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत केवल सामान्य सिद्धान्तों की समीक्षा की जाती है और उनका यथासम्भव सर्वसाधारण स्वरूप प्रतिष्ठित किया जाता है। व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत किसी विशेष भाषा या भाषा-समूह की विस्तृत विवेचना की जाती है। भाषा-विज्ञान के सामान्य सिद्धान्त उसका सैद्धान्तिक पक्ष है। व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत किसी भी भाषा को लिया जा सकता है—जैसे हिंदी। हिंदी की ध्वनियों व्याकरणिक रूपों आदि का विश्लेषण वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का विषय है। हिंदी की गुजराती मराठी आदि के साथ तुलना तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का विषय है। भारोपीय भाषा अथवा वैदिक संस्कृत से लेकर हिंदी तक विकास की रूपरेखा निर्धारित करना ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का विषय है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं का भी विस्तृत अध्ययन वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक आधार पर किया जा सकता है। यह भाषा-विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष है।

भाषा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अध्ययन के लिए भाषाविज्ञान को मुख्यतया चार वर्गों में बांटा जाता है। (१) ध्वनि-विज्ञान (Phonology), (२) पदविज्ञान या रूपविज्ञान (morphology), (३) वाक्यविज्ञान (syntax), (४) अर्थविज्ञान (semasiology, sematology, semantics)। इन का विवेचन आगे किया जायगा।

भाषाविज्ञान के इन रूपों के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों का भी अध्ययन किया जाता है। इनमें से कुछेक विषय उपयुक्त विषयों से सम्बद्ध भी माने जा सकते हैं। प्रागैतिहासिक खोज, व्युत्पत्तिशास्त्र आदि ऐसे ही विषय हैं। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध भाषित भाषा के साथ है लिखित भाषा के साथ नहीं परन्तु भाषा का जहां भाषित रूप नहीं मिलता वहां लिखित भाषा का ही आधार ग्रहण करना पड़ता है। लिखने में लिपि का महत्व पूर्ण स्थान है इसीलिए लिपि का वैज्ञानिक अध्ययन भी भाषा-विज्ञान का ही विषय मान लिया जाता है।

अध्याय २

भाषा

भाषा-विज्ञान दो शब्दों से बना हुआ शब्द है—भाषा और विज्ञान।
भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में मुख्य स्थान भाषा का ही है। अब प्रश्न
यह उठता है कि भाषा किसे कहते हैं? साधारण तौर पर भाषा का जो
अर्थ किया जाता है उसके अनुसार भाषा को पारस्परिक विचार विनिमय
अथवा विचारों और भावों के प्रकट करने का साधन कहा जा सकता है।
विचारों और भावों के विनिमय अथवा प्रकटीकरण के साधन अनेक हैं
जिनमें मुख्य साधन चार माने जा सकते हैं—(१) मुखाकृति, (२) इंगित,
(३) स्पर्श, (४) शब्द। सामान्य व्यवहार में इनमें से किसी भी एक या
एक से अधिक साधन का प्रयोग किया जा सकता है। हम प्रायः किसी
के गम्भीर चेहरे को देखकर ही उसके मनोगत भावों चिन्ता, शोक आदि
का अनुमान लगा लेते हैं। दूर स्थित किसी व्यक्ति को हाथ के इशारों से
अपने भाव समझाने का प्रयत्न करते हैं। पास में बैठे हुए व्यक्ति को हाथ
लगाकर कुछ बताया जा सकता है। विशेषतया चार रात्रि के अन्धकार में
एक दूसरे पर अपने भाव प्रकट करने के लिए इसी साधन का प्रयोग करते
हैं। अन्तिम साधन 'शब्द' का प्रयोग अनेक रूपों में किया जा सकता है।
सभी जीवित प्राणी 'शब्द' का प्रयोग करते हैं। दो जड़ पदार्थों अथवा
चेतन और जड़ के संयोग में भी शब्द प्रकट होता है। इन शब्दों के द्वारा
ऐसी विचार और भाव को भी प्रकट किया जाता है। चेतन प्राणियों
: शब्द को भी पशु-पक्षीकृत और मानवकृत शब्दों में बाँटा जा सकता है।
क्षियों की दुःख, सुख, आपत्ति, चिन्ता आदि भावों को प्रकट करने वाली
वाजें और पशुओं में जैसे गाय के बछड़े की गाय को बुलाने की आवाज
-पक्षीकृत शब्द के अन्तर्गत रखी जा सकती है। मानवकृत शब्दों में भी

अनेक रूप हैं। किसी कड़वी चीज या मिर्च आदि को खाने पर जो मुख की आवाज निकलती है वह भी मानवीय शब्द है और परस्पर बातचीत करने के लिए जिन सार्थक सर्वमान्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे भी मानवीय शब्द हैं।

यदि हम भाषा का व्यापक अर्थ विचार-विनिमय का साधन अथवा विचारों और भावों को प्रकट करने का साधन ग्रहण करें तो उपर्युक्त सभी अनेक रूप भाषा के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक रूप और भी हैं जिनका सम्बन्ध विशिष्ट व्यक्तियों के साथ है। उन्हें भी भाषा के अन्तर्गत रखना होगा। कवियों की मूक भाषा से सहृदय व्यक्ति परिचित ही हैं। नायिका के मौन-निमन्त्रण को भी सरस व्यक्ति अच्छी तरह जानते हैं। धरती के कण कण में भाषाओं का जाल बिछा हुआ है। विज्ञानवेत्ता और इतिहासान्वेषी भी प्रकृति को ग्रन्थ रूप मान कर उस पर लिखी भाषा पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हैं।[1] मोहेंजोदारो और हड़प्पा के भग्नावशेष भी अपने टूटे-फूटे रूप में किसी विचार अथवा भाव को प्रकट करते दिखाई देते हैं। कितने ऐतिहासिक स्तम्भ और स्थान अनेक प्रकार की कहानियां सुनाते प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार भाषा का यह व्यापक अर्थ हमें भाषा के साधारण तौर पर मान्य अर्थ से भी दूर ले जाता है। यदि हम भौतिक क्षेत्र से थोड़ा ऊपर उठकर मानसिक और आत्मिक क्षेत्र में प्रवेश करें तो हमें भाषा का यह रूप और भी विस्तृत होता दिखाई देगा। योगियों और साधुओं का मौन

---

१ पं० नेहरू ने श्री इन्दिरा को लिखे पत्रों में प्रकृति की भाषा का उल्लेख किया है —

"To be able to read any language, Hindi, Urdu, or English, you have to learn its alphabet. So also you must learn the alphabet of nature before you can read her story in her books of stone and rock". Letters from a Father to His Daughter, P. 8.

वत भी किसी भाव का सकेत करता प्रतीत होगा। अन्यान्य योग साधनाओ में भाषा के कितने रूप हो सकते हैं जिनके द्वारा आत्मा और परमात्मा अथवा अन्य किसी दिव्य शक्ति का सम्बन्ध स्थापित हो सकता है उनके सम्बन्ध मे तो कोई अनुभवी व्यक्ति ही बता सकेगा।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र मे भाषा के इतने विस्तृत अर्थ को स्वीकार नही किया जाता। यदि हम भाषा के अर्थ को थोड़ा सकुचित कर दें और उसे केवल शब्द तक ही सीमित करदें तो हम कह सकते है कि भाषा वह शब्द है जिसके द्वारा विचारो अथवा भावो को प्रकट किया जा सकता है परन्तु यह शब्द भी अनेक प्रकार का है जिसमे पशु-पक्षी-कृत शब्द में भी अतिव्याप्ति मानी जा सकती है। सम्भव है कि पशुपक्षियों की भी अपनी कोई व्यवस्थित भाषा हो। इस प्रकार की भाषा के उल्लेख प्राचीन संस्कृत साहित्य में तो मिलते ही हैं। आधुनिक युग मे भी वानरो की एक भाषा का अध्ययन अमरीका के डा० मार्टिन एच० मोयनिहान कर रहे हैं। वे स्मिथ-सोनियन इन्स्टिट्यूशन्स पनामा बायलाजिकल एरिया के डायरेक्टर हैं। इन्होंने इस अध्ययन मे विशेष प्रगति भी की है। उनका यह विचार है कि वानर जो शब्द करते हैं उनका थोड़ा बहुत अर्थ उसी जाति के अन्य वानर समझ लेते हैं। सरलतम वानरभाषा मे ६ से ८ तक बड़ी ध्वनिया हैं। कठिन वानरभाषा मे १० से १२ तक बड़ी ध्वनिया मिलती हैं। सम्भव है इसी प्रकार वानरो की भाषाओं का अध्ययन करते हुए हम धीरे धीरे अन्य पशु-पक्षियों की भाषाओं का भी वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें। परन्तु अभी तक भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन केवल मानवीय भाषा तक ही सीमित है इस लिये भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने के उपयुक्त सकुचित अर्थ करते समय हमे इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

इस दृष्टि से विचार करने पर भाषा की यह परिभाषा अधिक उपयुक्त समझी जा सकती है। भाषा उन सार्थक और विश्लेषण योग्य मानवीय ध्वनियों को कहते हैं जिनका प्रयोग विचारो और भावो को प्रकट

भाषा अर्जित सम्पत्ति है

साधारणतया जब हम सम्पत्ति शब्द का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि यह हमारी सम्पत्ति है तो इसके तीन अर्थ हो सकते हैं :—(१) यह सम्पत्ति हमें पैतृक परम्परा से प्राप्त है। (२) यह सम्पत्ति हमने अपने आप कमाकर बनाई है। (३) यह उस समाज की सम्पत्ति है जिसके हम अङ्ग हैं जैसे यह हमारा कालेज है, हमारी धर्मशाला है इत्यादि। जो सम्पत्ति परम्पराप्राप्त होगी वह अर्जित और सामाजिक नहीं हो सकती, इसी प्रकार जो अर्जित सम्पत्ति होगी वह परम्पराप्राप्त और सामाजिक नहीं हो सकती। भाषा हमारी सम्पत्ति है। ऐसा कहते समय हम तीनों शब्दों का एक साथ प्रयोग कर सकते हैं अर्थात् भाषा हमारी वह सम्पत्ति है जो परम्पराप्राप्त भी है, अर्जित भी है और सामाजिक भी।

प्रायः लोग यही समझते हैं कि भाषा परम्परा प्राप्त है। बच्चे सबसे पहले उसी भाषा को ही सीखते हैं जो भाषा उनके माता-पिता की होती है। इसीलिए अपनी पहली सीखी हुई भाषा को मातृभाषा कहा जाता है। पहली पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी भाषा सीखती है। इसी तरह दूसरी पीढ़ी तीसरी पीढ़ी को भाषा सिखाती है। यदि इसी अर्थ में परम्पराप्राप्त शब्द का अर्थ ग्रहण किया जाय तो यह मानना ठीक रहेगा कि भाषा परम्पराप्राप्त होती है। परन्तु जिस प्रकार परम्पराप्राप्त सम्पत्ति बिना परिश्रम के स्वाभाविक तौर पर प्राप्त हो जाती है, वैसे भाषा प्राप्त नहीं होती। भाषा सीखने के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। बच्चा स्वाभाविक तौर पर ही उसे नहीं सीख जाता बल्कि उसे भाषा का अर्जन करना होता है। इस लिये भाषा को अर्जित सम्पत्ति माना जाता है।

भाषा केवल परम्पराप्राप्त है—ऐसा मानना भूल है। पैदा होते ही बच्चे की कोई अपनी भाषा नहीं होती वह तो जिन लोगों के अधिक सम्पर्क में रहता है उन्हीं से भाषा सीखता है जिन में विशेषतया मां और सामान्यतया परिवार के अन्य लोगों तथा पास पड़ोस के लोगों का भी

विशेष हाथ रहता है। यदि पैदा होते ही बच्चा ऐसे वातावरण में पलने लग जाय जहां उसके निकट सम्पर्क में रहने वाले लोग उसकी मातृभाषा से भिन्न भाषा बोलने वाले हों तो बच्चा मातृभाषा को नहीं सीखेगा। बल्कि अपने आसपास के वातावरण की ही भाषा सीखेगा। पैतृक-परम्परा का इसमें कोई हाथ नहीं रहता। जो लोग अपनी इच्छा से या किसी कारणवश अपने पैतृक स्थान से दूर चले जाते हैं वे लोग शीघ्र ही अपनी भाषा भूल जाते हैं और अपने नये स्थान की भाषा ग्रहण कर लेते हैं। परिणाम स्वरूप उनकी आगामी पीढ़ियों का सम्बन्ध अपनी भाषा से छूट जाता है। भारत में बसे हुए पारसी अपनी भाषा न बोलकर भारत की गुजराती या उर्दू भाषा ही बोलते हैं। कहते हैं कि मिस्र के राजा सैमेटिकुस ने दो बच्चों को पैदा होते ही पृथक् कर दिया था। वे बच्चे कोई भी भाषा नहीं सीख पाये। इसी प्रकार का एक परीक्षण अकबर ने भी कराया था। उसका भी यही परिणाम निकला। आजकल भी जिन बच्चों को भेड़िये उठा ले जाते हैं वे कोई भी मानवीय भाषा नहीं बोलते। सन् १९२० में एक भेड़िये की गुफा में दो बच्चे मिले थे। एक की उम्र आठ वर्ष की थी और दूसरे की दो वर्ष की। छोटा बच्चा तो कुछ महीने बाद मर गया परन्तु आठ वर्ष की लड़की जिसका नाम बाद में कमला रखा गया सन् १९२९ तक जीवित रही। कमला केवल भेड़िये की तरह आवाजें करती थी। वह कोई भी मानवीय भाषा नहीं सीख पाई थी। अमरीका में एक अवैध बच्ची अन्ना को छः महीने की आयु में अलग कमरे में रख दिया गया था। सन् १९३८ में पांच वर्ष बाद उसका पता चला। वह कोई भी भाषा नहीं जानती थी।[1]

1. "Kamala brought with her almost rone of the traits that we associate with human behaviour. She could only walk on all fours, possessed no language save wolf-like grows, and was as sky of humans as was any other undomesticated animal... ......When Ann› was d scovered, she could not walk or speak. Society R. M. Maciver and charles H. Page 45, (1950).

भाषा अर्जित सम्पत्ति है, इसका अर्थ यही है कि बच्चे को भाषा सीखनी पड़ती है। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि बच्चा अपनी भाषा स्वयं बनाता है और वह उसकी अपनी ही है। वस्तुतः भाषा सामाजिक है। वह समाज की देन है और इसीलिए समाज की सांझी वस्तु है। यदि कोई व्यक्ति अन्य अर्जित सम्पत्ति के समान भाषा को भी केवल अपनी ही वस्तु मानने लग जाये अथवा अपनी किसी नई भाषा का निर्माण करले तो वह ठीक नहीं होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा परम्परा से प्राप्त की जाती है परन्तु अर्जित है और साथ ही वह सामाजिक सम्पत्ति है।

भाषा परिवर्तनशील और स्थिर है

संसार की प्रायः सभी चीजें परिवर्तनशील मानी जाती हैं। भाषा भी परिवर्तनशील है। संसार की कुछ चीजों में परिवर्तन जल्दी हो जाता है परन्तु कुछ ऐसी भी होती हैं जिनमें परिवर्तन इतना धीरे धीरे होता है कि हम उसे समझ या देख भी नहीं पाते। भाषा में परिवर्तन धीरे धीरे होता है। यदि हम आधुनिक भाषाओं के इतिहास की ओर ध्यान दें तो यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी क्योंकि ये सब भाषायें प्राचीन भाषाओं का परिवर्तित रूप हैं। भारतवर्ष में प्रचलित हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि अनेक भाषायें प्राचीन वैदिक संस्कृत से परिवर्तित हो कर ही तो बनी हैं। संस्कृत का 'पत्र' शब्द ही तो 'पत्ता' बन गया और संस्कृत का 'कुम्भकार' शब्द ही 'कुम्हार' के रूप में परिवर्तित हो गया है। इसी प्रकार अनेक उदाहरण अन्यान्य भाषाओं में से भी दिये जा सकते हैं।

भाषा परिवर्तनशील है। इस विषय में सभी एक मत हैं परन्तु इस परिवर्तन को बताने के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इनमें से वृद्धि, विकास, उन्नति, सुधार, अवनति, ह्रास[1] आदि शब्द मुख्य हैं।

---

1. Growth, Development, Evolution, Improvement Decay.

इन शब्दों के आधार पर ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि परिवर्तन के सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में एकमत्य नहीं है। परिवर्तन दो प्रकार का होता है:—१ वृद्धि, विकास या उन्नति और २ ह्रास या अवनति। भाषा परिवर्तित होकर विकसित होती है या भ्रष्ट। इसी बात को लेकर ही वादविवाद किया जाता है। जो लोग परम्परावादी हैं और अपनी प्राचीनता के परम उपासक हैं वे तो सभी प्राचीन बातों को सर्वश्रेष्ठ ही मानते हैं। यही कारण है कि वे प्राचीन भाषा को भी सर्वाधिक उन्नत मानते है। जो लोग डार्विन के विकासवादी सिद्धांत से प्रभावित हैं वे तो हर दिशा में मानवता के विकास की ही बात करते हैं। इसलिये भाषा भी उन्हें प्राचीन भाषा की अपेक्षा अधिक उन्नत दिखाई देती है। कुछ विद्वान ऐसे हैं जिन्हें हम परम्परावादी अथवा विकासवादी वर्गों के अन्तर्गत स्पष्टतया नहीं रख सकते। परन्तु जिन प्राचीन भाषाओं का अध्ययन उन्होंने किया है उनमें वे इतने प्रभावित हुए हैं कि वे भाषा की उन्नति की बात मुंह से निकाल ही नहीं सकते। इस अन्तिम श्रेणी के विद्वानों में विलियम जोन्स (William Jones) और मैक्समूलर (Max Muller) का नाम लिया जा सकता है। मैक्समूलर ने तो अपने विचार बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त किये हैं। उन के विचार में आर्य भाषाओं का इतिहास ह्रास के अधिक स्वरूप को ही स्पष्ट करता है। संस्कृत ग्रन्थों में विकृत, अपमाषित, म्लेच्छित, अपभ्रंश, अपभ्रष्ट, विभ्रष्ट शब्दों का प्रयोग भी भाषा के ह्रास की ही अधिक पुष्टि करता है।

यदि हम इस प्रकार के वाद-विवाद से बचना चाहें तो परिवर्तन का सर्वमान्य शब्द व्यवहार में ला सकते हैं। भाषा में परिवर्तन होता है। उसे चाहे विकार कह दें चाहे विकास, बात एक ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शब्दों का अशुद्ध उच्चारण ही परिवर्तित रूप बनकर मान्य होने लगता है तो हम उस परिवर्तन को अशुद्ध, विकृत और अनुचित कहते हैं परन्तु जब वही सर्वमान्य हो जाता है तो हम उसी को शुद्ध रूप मानकर अपना लेते है। हमारे पास ऐसी कोई कसौटी नहीं जिस

से हम परिवर्तित रूप के खरे-खोटे, अच्छे-बुरे होने की परीक्षा कर सकें। संस्कृत का 'सप्त' शब्द अच्छा है या उसका परिवर्तित रूप 'सात' इसे बताने का हमारे पास कोई साधन नहीं। इसलिये हम अच्छे-बुरे, उन्नति-अवनति, विकास-विकार के चक्कर में न फस कर वृद्धि या ह्रास दोनों को परिवर्तन के अर्थ मे ही ग्रहण करलें तो अधिक ठीक होगा।

भाषा की एक विशेषता परिवर्तनशीलता है तो दूसरी विशेषता स्थिरता भी है। भाषा में परिवर्तन होता है परन्तु बहुत धीरे धीरे। यह परिवर्तन इतने धीरे धीरे होता है कि हम कभी कभी भाषा के प्रतिक्षण परिवर्तन की बात मान ही नहीं सकते। वस्तुत: भाषा का उद्देश्य विचारों और भावों को प्रकट करना है। इस रूप मे भाषा एक पीढ़ी और दूसरी पीढ़ी मे कड़ी का काम करती है। यदि भाषा हर दूसरे दिन बदल जाये तो वह अपने उद्देश्य मे सफल नही हो सकती। इसीलिये मानव-समाज अपनी भाषा के स्वरूप को स्थिर रखने का भरसक प्रयत्न करता है। जो परिवर्तन स्वाभाविक या अलक्षित रूप मे हो जाते हैं उन पर तो उसका वश नही चलता।[1] जब पहले पहल बच्चा भाषा सीखते समय कुछ गलतिया करता है तो मा बाप थोड़ी देर के लिये भले ही अपना मन बहलालें परन्तु जल्दी ही वे उसकी गलतिया ठीक करने का प्रयत्न करते हैं। सभी लोग अपनी ओर से शुद्ध भाषा ही सीखते हैं चाहे वह शिक्षित हो चाहे अशिक्षित। इसीलिये भाषा स्थिर रह पाती है।

---

1. बच्चा जब केला, काका, कमला के स्थान पर तेला, ताता, तमला कहता है तो उसकी इन गलतियों को ठीक करने का प्रयत्न किया जाता है। बच्चा आसान लगने वाली ध्वनियों को जल्दी सीख जाता है। दूसरी जटिल ध्वनियों को सीखने में उसे समय लगता है। विस्तृत विवरण के लिये देखिये : Jesperson : Language, Its Nature, Development and Origin.

अध्याय 3

भाषा की उत्पत्ति

यद्यपि ज्ञान विज्ञान की अनेक शाखाओं के विस्तार से विविध रहस्यों को जानने और विभिन्न शङ्काओं का समाधान करने का पूरा प्रयास किया जाता रहा है, तथापि कुछ ऐसी समस्यायें या रहस्य हैं जिनका समाधान नहीं किया जा सका। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न वस्तुत. ऐसा ही प्रश्न है जिसका वैज्ञानिक हल प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न मानव की उत्पत्ति और मानव-मन मे विचारों और भावो की उत्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक यह निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता कि मानव की उत्पत्ति कैसे हुई और उसके मन में विचार और भाव किस प्रकार जागृत हुए तब तक भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न हल नहीं किया जा सकता। अभी तक मानव-विज्ञान और मनोविज्ञान ने मानव और विचार सम्बन्धी प्रश्नों को हल नहीं किया है। यही कारण है कि अनेक भाषा-शास्त्री भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार तक नहीं करना चाहते क्योंकि वे अच्छी तरह समझते हैं कि इस समस्या का कोई हल नहीं ढूंढा जा सकता[1]।

---

1. इटली के प्रसिद्ध विद्वान् मेरियो पाई (Mario Pai) ने लिखा है :—

"If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved." See The story of Language. Page 18 (1952)

महाकवि होमर ने भी देवभाषा का उल्लेख किया है। मुसलमानों का यह विचार है कि खुदा ने पैगंबर हज़रत मुहम्मद को अरबी भाषा ही सबसे पहले सिखलाई।

कुछ परम्परावादी ऐसे भी हैं जो ईश्वर पर विश्वास न रखने के कारण भाषा को ईश्वरप्रदत्त तो नहीं मानते परन्तु अपनी धार्मिक परम्पराओं के कारण अपने धर्म की भाषा को ही आदि भाषा मानते हैं। बौद्ध लोग पालि (मागधी) और जैन लोग आर्ष या अर्द्धमागधी को आदि भाषा मानते हैं।

हमारे पास ऐसा कोई वैज्ञानिक साधन नहीं जिसके आधार पर विभिन्न परम्परावादी विचारों का युक्ति सगत परीक्षण किया जा सके और किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके। पालि व्याकरण लिखने वाले बौद्ध विद्वान् कच्चायन ने अवश्य एक बात लिखी है जिसके आधार पर इन मतों की परीक्षा की जा सकती है। उनका कहना है कि यदि बच्चे को कोई भाषा न सिखलाई जाए तो वह मागधी भाषा ही बोलेगा। परन्तु आजतक इस प्रकार के जितने प्रयोग किये गये हैं, जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, यह बात सिद्ध नहीं की जा सकी। जैन लोगों का यह विश्वास है कि पशु-पक्षी तक अर्द्धमागधी भाषा को समझ लेते है। परन्तु इसका भी कोई युक्ति-सगत प्रमाण नहीं है।

इतनी बात तो स्पष्ट ही है कि बच्चा माँ के पेट मे कोई भी भाषा सीख कर नहीं आता और इस समय तक प्राप्त भाषाओं में से किसी एक भाषा को वैज्ञानिक आधार पर ईश्वर-कृत, स्वाभाविक अथवा दिव्य शक्ति से उत्पन्न नहीं माना जा सकता। इसके कुछ अन्य कारण भी हैं। हर्डर का कहना है कि यदि भाषा का निर्माण ईश्वर ने किया होता तो वह अधिक पूर्ण और युक्तिसगत होती। हर्डर का एक और मार्ग भी है कि अधिकांश

भाषाओं में धातुओं से संज्ञा शब्दों की उत्पत्ति देखी जाती है यदि भाषा ईश्वरकृत होती तो भाषा का प्रारम्भ संज्ञा शब्दों से होता।[1] भाषा की अपूर्णता और सदोषता देखते हुए तो यही कहना पड़ेगा कि भाषा ईश्वरकृत नहीं। इसी लिये दिव्य उत्पत्ति का सिद्धांत अमान्य है।

प्रत्यक्षमार्ग के अन्तर्गत दूसरा वाद विकासवाद है। विकासवाद के अन्तर्गत भी मत-विभिन्नता देखने को मिलती है। वस्तुतः इन्हीं विभिन्न मतों के आधार पर ही समन्वित विकासवाद के सिद्धांत का विकास हुआ है। इस लिये इन विभिन्न मतों पर भी संक्षेप से विचार करना अनुचित न होगा।

१. सांकेतिक उत्पत्ति या निर्णय सिद्धांत (Conventional or symbolical origin)

समाज और सामाजिक संस्थाओं के निर्माण के सम्बन्ध में फ्रांस के सुप्रसिद्ध लेखक जे जे रूसो (J.J. Rousseau) के अपने विशिष्ट विचार थे। उन्हीं विचारों के आधार पर उसने बताया कि भाषा की उत्पत्ति मनुष्य ने की। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। जब मनुष्य को सामाजिक व्यवहार के लिये भाषा की आवश्यकता प्रतीत हुई तो परस्पर मिलकर

---

1. डेनिश लेखक जेस्पर्सन ने गाटफ्राईड हर्डर के इन दोनों आक्षेपों का उल्लेख किया है : –

"One of Herder's strongest arguments is that if language had b.en framed by God and by Him instilled into the mind of man, we should expect it to be much logical, much more imbued with pure reason than it is an actual matter of fac.t"

दूसरा आक्षेप है :—

"And [illegible] accord- [illegible] of God, [illegible] at would [illegible] anguage [illegible]

शब्द हैं। यदि केवल मनोभावों के आधार पर ये शब्द बने होते तो सभी भाषाओं में समान होते क्योंकि मानव मात्र के मनोभाव प्रायः एक जैसे ही हैं।

५. यो हे हो वाद (Yo-he-ho theory)

इस सिद्धान्त को प्रतीकवाद या श्रमपरिहरणमूलकता वाद भी कहा जाता है। इसके अनुसार मजदूर आदि कोई बहुत परिश्रम का काम करते हुए स्वाभाविक तौर पर हो हो—हीं हो आदि ध्वनियों को निकालते हैं। इन्हीं के आधार पर भाषा की उत्पत्ति हुई होगी। यह मत भी आंशिक रूप से मान्य हो सकता है क्यो कि इस प्रकार के शब्द भाषाओं में बहुत ही कम हैं।

६. अनुरणनमूलकतावाद (Ding-dong theory)

इस मत के अनुसार जड़ पदार्थों के परस्पर संसर्ग या चोट से जो ध्वनि निकलती है उसी के आधार पर बनाये गये शब्दों से भाषा की उत्पत्ति हुई थी। इस प्रकार के शब्द हिन्दी में खटपट, कलकल, झनझन आदि हैं। अनुरणनमूलकशब्द भी इतने कम है कि इन्हें आंशिक रूप में मान्य समझा जा सकता है।

७. विकासवाद का समन्वित रूप

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिन छः सिद्धान्तों पर हमने पूर्व विचार किया गया है उन में से सांकेतिक उत्पत्ति का सिद्धान्त और धातु सिद्धान्त सर्वथा अमान्य हैं क्योंकि इन्हे मानने के लिये कोई युक्ति-संगत प्रमाण नहीं। शेष अन्य चार सिद्धान्त आंशिक रूप में मान्य है क्योंकि इन सिद्धान्तों पर आधारित कुछ शब्द भाषाओं में मिल जाते हैं। इस लिये किसी एक सिद्धान्त विशेष पर आग्रह न कर सभी सिद्धान्तों का समन्वय कर तथा अन्य शब्दों का आधार लेकर भाषा के विकास की कल्पना की जा सकती है। सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञानी हेन्री स्वीट (Henry Sweet

ने इसी समन्वित विकासवाद को स्वीकार किया है। चार प्रकार के सिद्धान्तों में आये हुए शब्दों को दो भागों के अन्तर्गत बांटा जा सकता है— १. अनुकरणमूलक २. मनोभावाभिव्यञ्जक । अनुरणनात्मक शब्द अनुकरणमूलक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं और श्रमपरिहरणमूलक शब्द मनोभावाभिव्यञ्जक माने जा सकते हैं। इन के अतिरिक्त स्वीट का यह विचार है कि तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक होते हैं। पिछले दो भागों के अन्तर्गत न आने वाले शब्द इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर जब बच्चा पहले पहल बोलना शुरू करता है तो वह अनायास कुछ ध्वनियां निकाल जाता है जैसे—पा पा, मा मा। पहले पहल बच्चे के मस्तिष्क में इन ध्वनियों का कोई अर्थ नहीं होता परन्तु धीरे धीरे उसे समझाया जाता है कि उसके मुख से उच्चरित पापा ध्वनि पिता की प्रतीक है और मामा ध्वनि मां की प्रतीक है। इसी प्रकार प्राचीन काल में भी किसी विशेष क्रिया को द्योतित करने वाली ध्वनि प्रतीक रूप में उसी क्रिया का अर्थ बताने वाले शब्द के रूप में परिवर्तित हो गई। लैटिन में 'पीने' के लिए 'बिबेरे' शब्द है—संस्कृत में यही शब्द 'पिब' है अरबी में 'शरब' है। इन सब में प-ब ध्वनियां हैं जो उस पीने की क्रिया की प्रतीक हैं। आदिम मानव दोनों होठों से पानी पीते समय सांस अन्दर खींचता होगा और स्वाभाविक तौर पर दोनों ओठों के संसर्ग से प या ब की ध्वनि निकलती होगी। बाद में इन्हें प्रतीक रूप में ग्रहण कर शब्दों का निर्माण कर लिया गया होगा।

भाषा के विकास का इतिहास अत्यन्त रोचक है। किसी भी भाषा में आये हुए शब्द इस इतिहास को स्पष्ट करने में पर्याप्त हैं यदि उन पर गम्भीरता से विचार किया जाय। भाषा का विकास केवल आदिम काल में ही नहीं हुआ बल्कि अब भी हो रहा है। जैसे जैसे ज्ञान-विज्ञान का विकास होता जा रहा है वैसे वैसे उनको व्यक्त करने के लिये शब्दों की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। पहले से उपलब्ध शब्दों के आधार पर नये शब्द बना लिये जाते हैं। इस प्रकार आवश्यकतानुसार भाषा का

विकास होता जा रहा है। पुराने शब्दों के आधार पर बनाये हुए नये शब्द को औपचारिक शब्द भी कहा जाता है। संस्कृत में 'या' का अर्थ जाना इसी से यान, यात्रा, अभियान, वायुयान, वाष्पयान, जलयान, प्रयाण हीनयान, महायान आदि अनेक शब्दों का निर्माण कर लिया गया है विद् का अर्थ जानना है। धीरे धीरे सुख दुःख का अनुभव करने में इसका प्रयोग होने लगा। इसी से बना वेदना शब्द केवल दुःख के अर्थ में होगया। अंग्रेज़ी का (understand) शब्द बड़ा रोचक है। प्राचीन काल में किसी बात का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जिज्ञासु को ज्ञाता के नीचे खड़ा रहना पड़ता था। under=नीचे stand=खड़ा होना समझना के अर्थ में रूढ़ होगया। उन्नीसवीं शताब्दी में कर्नल बायकाट (Colonel Boycott) नामक व्यक्ति को आयरिश लोग से निकाल गया तभी से बायकाट शब्द बहिष्कार के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय की आनर्स डिग्री का नाम ट्राइपोज (Tripos) है। इस शब्द का सम्बन्ध ग्रीक त्रिपोदोस् (Tripodos) या संस्कृत त्रिपाद के साथ है। डिग्री प्राप्त करने का इच्छुक विद्यार्थी तीन-पैर वाले स्टूल पर बैठ कर शास्त्रार्थ किया करता था। इसी से ट्राइपो (Tripos) शब्द की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार के यदि उदाहरण दिये जायें तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। वस्तुतः भाषा में प्रयुक्त होने वाले सभी शब्दों का अपना एक इतिहास है। वे अनेक रूपों में विकसित होकर ही आजकल व्यवहृत होते हैं इसी लिये भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद का सिद्धान्त ही अधिक मान्य है।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करने की दूसरी पद्धति परोक्षमार्ग (Inductive method) की है इसे निगमन पद्धति भी कहा जाता है। जेस्पर्सन आदि कई विद्वान् इसी के आधार पर वैज्ञानिक खोज करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार की पद्धति में आधुनिक उपलब्ध भाषाओं के आधार पर भाषा की मूल प्रकृति अथवा उद्गम तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार की पद्धति पर चलने वाले भाषा

शास्त्री अधिकांश में शिशुओं की भाषा तथा असभ्य जातियों की भाषाओं का अध्ययन करते हुए कुछ सिद्धान्तों का आविष्कार करते दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त वे आधुनिक भाषाओं से प्रारम्भ कर प्राचीन भाषा तक पहुंचने का भी प्रयास करते हैं। यद्यपि यह प्रयास प्रशंसनीय है तथापि इससे पूर्णतया निर्दोष निष्कर्षों तक नहीं पहुंचा जासकता। बच्चे को भाषा सीखते देख कर यह कल्पना की जा सकती है कि आदि-मानव किस प्रकार भाषा सीखता होगा परन्तु हमें स्मरण रखना है कि बच्चे के वातावरण में पहले से किसी भाषा का अस्तित्व होता है इसलिये भाषा न होने पर आदि मानव ने कैसे भाषा की उत्पत्ति की होगी—इस रहस्य तक हमारी पहुंच केवल शिशु-भाषा के अध्ययन से नहीं हो सकती। इसी प्रकार आदिम असभ्य जातियों की भाषाओं में प्राचीन या आदिम रूपों की कल्पना की जासकती है परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि आज की आदिम असभ्य जातियों पर भी किसी न किसी रूप में अन्य प्रभाव पड़ते रहे हैं। कम से कम विकास की दिशा में आज की आदिम जातियां भी पुरातन आदि मानव से बहुत आगे बढ़ चुकी हैं। भाषा-सम्बन्धी ऐतिहासिक अनुसन्धान विशेष महत्वपूर्ण है इसी के बल पर अनेक रूपों की कल्पना की जाती है जो आजकल लुप्त होचुके हैं परन्तु इस ऐतिहासिक खोज का आधार भी लिखित साहित्य है इसलिये उच्चरित स्वरूप के सम्बन्ध में गलतियां रह जाने की गुंजायश बनी रहती है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में खोज करते समय ये कठिनाइयां आती हैं और मानव के ज्ञान की सीमायें हैं इसे मान कर भी इस दिशा में जितनी प्रगति की जा रही है उसे देखते हुए यह सम्भावना की जासकती है कि किसी न किसी दिन सृष्टि का भाषा-सम्बन्धी रहस्य भी पूर्णतया स्पष्ट होजायेगा।

अध्याय ४

भाषा परिवर्तन का मूल कारण

भाषा परिवर्तनशील है, भाषा की इस परिवर्तनशीलता के अनेक कारण हैं। ये कारण शारीरिक, भौतिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार के हो सकते है। मनुष्य भाषा को दूसरों से प्राप्त करता है इसलिये उसे अपने शरीर के अवयवों जैसे कान, मुख आदि का उपयोग करना पड़ता है। मनुष्य दूसरो से भाषा सीखने में अनेक प्रकार की गलतियाँ करता है। यही कारण है कि भाषा मे परिवर्तन होजाया करता है। इसी प्रकार भौगोलिक परिस्थितियाँ, सामाजिक व्यवस्था आदि भी भाषा के परिवर्तन मे सहायक होजाती हैं। कुछेक भाषाशास्त्रियों का विचार है कि भाषा-परिवर्तन के अनेक कारणो मे से एक कारण ऐसा है जो मूलकारण है। वह मूल कारण कौन सा है इस सम्बन्ध मे सभी एकमत नही।

शारीरिक विभिन्नता (Anatomy)

कुछक विद्वानों का विचार है कि शारीरिक विभिन्नता ही भाषा-परिवर्तन का मूल कारण है। विभिन्न भाषाओं के बोलने वालों में शारीरिक विभिन्नता है। यही कारण है कि जिन ध्वनियों को एक भाषा बोलने वाले बोल सकते है उन्हे दूसरी भाषा बोलने वाले नही परन्तु यह बात ठीक नही जचती क्योंकि एक ही भाषा बोलने वालों में भी शारीरिक विभिन्नता होती है फिर भी उस भाषा को बोलने में किसी को विशेष सुविधा अथवा किसी को विशेष कठिनाई नहीं होती। दूसरे, विदेशों मे जाकर बस जाने वाले व्यक्ति शारीरिक विभिन्नता होने हुए भी वहा की

भाषा सीख जाते हैं। विभिन्न भाषाओं मे कुछ निजी स्वतन्त्र ध्वनियाँ देख कर कुछ लोगो को यह भ्रम होगया था कि अन्य भाषाभाषी उनका उच्चारण नही कर सकते परन्तु यह बात व्यवहार मे ठीक नही है। प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान मे निपुणता प्राप्त कर कोई भी व्यक्ति किसी भी ध्वनि का उच्चारण कर सकता है। इसके लिये सतत प्रयास और अभ्यास की आवश्यकता है। कुछ आदिम जातियां ध्वनियो का उच्चारण करते समय मुख को विशेष रूप मे विकृत कर दिया करती हैं। यदि उसी प्रकार मुख को विकृत कर उन ध्वनियों का उच्चारण किया जाय तो वैसा ही उच्चारण किया जा सकता है। मैनहाफ (Meinhof) ने याओ जाति की औरतो का एक बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है कि वे अपने ऊपर के होठ मे एक लकडी का टुकड़ा रखती हैं। यह उनके यहा का रिवाज है। इस का परिणाम यह होता है कि वे फ' ध्वनिका उच्चारण नही कर पातीं। क्योंकि स्त्रियाँ ही अपने बच्चे को प्राथमिक ध्वनियाँ सिखाती हैं इसलिये उनकी भाषा में फ ध्वनि नही है। परन्तु इसका यह मतलब नही कि उस जाति के लोग इस ध्वनि का उच्चारण नही कर सकते। प्रयत्न करने पर वे इस का भी उच्चारण कर सकते हैं जैसा कि वे अब अनेक शब्दो मे करने भी लगे हैं।

भौगोलिक विभिन्नता (Geography)

कुछ विद्वानो का यह विचार है कि भौगोलिक परिस्थितियों के भिन्न होने के कारण भाषा मे परिवर्तन होता है। और यही इसका मूल कारण है। उन के अनुसार अधिक शीतलता या उष्णता के कारण भाषा के स्वरूप मे अन्तर आजाता है। कोई भाषा कठोर होती है और कोई भाषा अत्यन्त कोमल। यह बात भी भौगोलिक परिस्थिति पर निर्भर है। इस सिद्धान्त को मानने वाले कुछ उदाहरण भी दिया करते हैं। काले सागर और कैस्पियन सागर के मध्यवर्ती भाग मे काकेशस पर्वत पर काकेशी भाषायें बोली जाती हैं। ये कर्कश भाषायें हैं क्योंकि यहा भौगोलिक

जटिलतायें बहुत हैं। जहां प्राकृतिक सुख-सुविधायें अधिक हो वहां की भाषाओं की ध्वनियां कोमल, सुन्दर और कर्णसुखद होंगी। यह बात भी ठीक नही। इसके विरुद्ध अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं। प्रकृति द्वारा प्रदत्त सब सुख-सुविधाओं के होते हुए भी अमरीका के उत्तर पश्चिमी किनारे की भाषायें कर्कश हैं। दूसरी ओर भौगोलिक दृष्टि से एस्किमो जाति को जैसे विकट वातावरण मे रहना पडता है वैसा ससार की किसी जाति को भी नहीं। परन्तु एस्किमो भाषा अनेक भाषाओं की अपेक्षा अधिक कोमल है। सब से बड़ी बात तो इसके विरुद्ध यह है कि किसी देश या भूभाग की भौगोलिक परिस्थितिया वैसी रहते हुए भी भाषा मे परिवर्तन हो जाता है। हमारे देश की भौगोलिक परिस्थितिया वही हैं परन्तु प्राचीन वैदिक सस्कृत और आधुनिक आर्य भाषाओं में आकाश-पाताल का अन्तर देखने को मिलता है।

जातीय मनोविज्ञान (National Psychology) :—

जर्मनी के सुप्रसिद्ध भाषा शास्त्री जैकब ग्रिम (Jacob Grimm) का विचार है कि जर्मन भाषाओं मे ध्वनि परिवर्तन का कारण जर्मन लोगों की प्रगतिशील प्रवृत्ति और स्वतन्त्रता की कामना है। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों के भी भाषा-परिवर्तन-सम्बन्धी विचार हैं, जिन का यह निष्कर्ष है कि परिवर्तन का मूल कारण किसी जाति की मानसिक विशेषतायें हैं। प्राय: भाषाओं के कोमल और कठोर होने की बात कही जाती है उसके मूल मे मानसिक कोमलता या कठोरता का अस्तित्व मान लिया जाता है। यही कारण है कि सस्कृत को कोमल और प्राकृत को कठोर कहा जाता है। आधुनिक आर्यभाषाओं मे बगाली भाषा को कोमल और द्राविड परिवार की सभी भाषाओं को मूर्धन्यप्रधान होने के कारण कठोर कहा जाता है। परन्तु यह मत भी ठीक नहीं। भाषा पर अपने मानसिक भावों का आरोप किसी जाति की अपनी व्यक्तिगत रुचि पर ही निर्भर होता है—वस्तुत. निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर भाषा को वैसा मानना ठीक नहीं। सभी लोगों

को अपनी भाषा से प्यार होता है इसलिये वे अपनी भाषा के साथ ऐसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं जो उनकी अपनी भावनाओं के प्रतीक होते हैं। कठोर मानी जाने वाली प्राकृत को राजशेखर ने नारी के समान कोमल माना है और तामिल-भाषा-भाषी अपनी भाषा को अमृतोपम मधुर मानते हैं। कहने वाले बंगाली भाषा को जनाना भाषा कह देते हैं। जर्मन भाषा को रूखी भाषा कह दिया जाता है। परन्तु ये धारणायें वैज्ञानिक सत्य नहीं हैं।

सांस्कृतिक परिवर्तन

जातीय मनोविज्ञान से मिलता जुलता एक और कारण भी बताया जाता है। वह है सांस्कृतिक परिवर्तन। वुन्त (Wundt) ने बताया है कि युद्धप्रिय प्रवासी जातियों ने जर्मनी की जनता को अपने अधीन कर लिया था जिससे नये राष्ट्र और नई संस्कृति का निर्माण हुआ। इसी से उच्चारण में तीव्र गति आई और भाषा में परिवर्तन हो गया। यह सिद्धान्त भी ठीक प्रतीत नहीं होता। प्रश्न यह उठता है कि सांस्कृतिक परिवर्तन होने से उच्चारण में गति केवल एक ही भाषा में और वह भी एक ही समय में क्यों आई? आज भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं और मानव की सांस्कृतिक व सामाजिक उन्नति की गति पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गई है परन्तु वैसा ध्वनि-परिवर्तन देखने को नहीं मिलता।

इस में कोई सन्देह नहीं कि भाषा में कभी कभी परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत तेज हो जाती है परन्तु उसका मूल कारण सांस्कृतिक परिवर्तन या जातीय मनोविज्ञान नहीं बल्कि प्रत्येक देश की अपनी विशिष्ट परिस्थितियां होती हैं। किसी एक भाषा का उदाहरण देकर किसी विशेष कारण को प्रमाणित करना उचित नहीं। अधिकांश में परिवर्तन में तेजी आने का कारण सामाजिक शिथिलता अथवा नियन्त्रण का अभाव है। भाषा परिवर्तनशील है परन्तु उसे स्थिर रखने का पूरा प्रयास किया जाता है। यदि इस प्रयास में कोई कमी आ जाये तो भाषा-परिवर्तन में तेजी आ

जाना स्वाभाविक है। अधिकांश मे बच्चों की भाषा पर नियन्त्र रखने वाले माता-पिता और स्कूलों-कालेजो मे नियन्त्रण रखने वाले अध्यापक होते हैं। यदि माता-पिता, अध्यापक आदि सभी उपेक्षा करने लग जाये और किसी प्रकार का नियन्त्रण न रखें तो भाषा बहुत तेजी से बदलने लग जायेगी। इस प्रकार की सामाजिक शिथिलता लाने वाली परिस्थितिया अनेक हो सकती हैं— जैसे महायुद्ध, महामारियां नौजवानो मे निरंकुशता अथवा अनुशासनहीनता की भावना आदि। जैस्पर्सन ने इसके अनेक उदाहरण दिये हैं। एक उदाहरण अत्यन्त रोचक है। अमरीका के छोटे छोटे प्रदेशो मे तीस भाषा-परिवार तक देखने को मिलते हैं। हमे स्मरण रखना है कि भारत जैसे विशाल देश मे चार भाषा-परिवार ही हैं और उनमे भी मुख्य भाषा-परिवार दो ही हैं। सारे योरप महाद्वीप मे भी चार या पांच से अधिक भाषा-परिवार नही हैं। इस के विपरीत उत्तरी अमरीका के कैलिफोर्निया प्रदेश के आस पास की जातियों मे उन्नीस भाषा-परिवार देखने को मिलते हैं। उस का कारण यही है कि यहां प्रकृति-प्रदत्त सुविधायें बहुत हैं और परिवार के नियन्त्रण से निकल कर भी बच्चे अपना पालन-पोषण बड़ी आसानी से कर सकते हैं। परिणामस्वरूप बच्चे घरो मे भाग जाते हैं और किसी प्रकार का नियन्त्रण न होने के कारण स्वतन्त्र रूप मे और बड़ी तेजी से भाषा मे परिवर्तन कर लिया करते हैं।

प्रयत्नलाघव (Economy of Effort या The Ease Theory)

सुप्रसिद्ध विद्वान् लॉक (Locke) का विचार है कि परिश्रम के लिये परिश्रम करना मानव प्रकृति के विरुद्ध है। यह बात ठीक भी है। जो काम आसानी से किया जा सके उसे कोई भी घोर परिश्रम के द्वारा पूर्ण करना पसन्द नही करेगा। इसी को प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति कहते हैं। यह प्रवृत्ति जैसे मानव के अन्य क्षेत्रो मे देखने को मिलती है वैसे ही भाषा के क्षेत्र में भी देखने को मिलती है। सभी ध्वनिपरिवर्तन इसी पर आधारित हैं जैसे 'अग्नि' की अपेक्षा 'आग' शब्द अधिक सुविधाजनक

है। प्रायः उच्चारण करते समय हम 'डाक्टर साहब' को 'डाक् साब' और 'प्रोफेसर साहब' को 'प्रोस्साब' ही कह देते हैं। शब्दों का संक्षिप्त उच्चारण इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही है जैसे रेलगाड़ी को केवल गाड़ी और वाइस-चान्सलर को केवल वी. सी. कह दिया जाता है। प्रिंसिपल का मूलरूप तो सुरक्षित रहता है परन्तु 'वाइस-प्रिन्सिपल' जैसे भारी भरकम शब्द को बदल कर वी पी कर दिया जाता है। यह प्रयत्न लाघव की प्रवृत्ति केवल शब्दों में ही नहीं बल्कि वाक्यों में भी देखने को मिलती है। यदि कोई प्रश्न करे – तुम्हारी पुस्तक कहां है ? तो दूसरा आश्चर्य में प्रश्नात्मक संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार देता है–मेरी ? इस अन्तिम वाक्य का अर्थ यह है कि "क्या तुम मुझ से यह पूछ रहे हो कि मेरी पुस्तक कहां है ?" इतने लम्बे चौड़े वाक्य का अर्थ केवल 'मेरी ?' शब्द से ही स्पष्ट हो जाये तो कोई क्यों इतना बड़ा वाक्य बोलने लगा। यही कारण है कि अंग्रेज़ी का 'हाउ डू यू डू' (How do you do) हू डू डू में परिवर्तित हो जाता है। लोटा को लोटवा और प्यार में बहू को बहुरिया कहने की प्रवृत्ति भी इसी के अन्तर्गत रखी जा सकती है।

आजकल प्रायः इसी सिद्धांत को भाषा के परिवर्तन का मूलकारण माना जाता है परन्तु जब पहले पहले यह सिद्धांत प्रस्तुत किया गया था तो अनेक भाषा शास्त्री इसे मानने के लिये तैयार नहीं थे। इसके लिये कई प्रमाण प्रस्तुत किये जाते थे। विरोधियों के मुख्य आक्षेप यह हैं –(१) मनुष्य को आलसी और परिश्रम से बचने वाला मानना ठीक नहीं। (२) कई भाषाओं में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें ध्वनियां परिवर्तित हो कर अधिक जटिल हो गई हैं। (३) सबसे बड़ा आक्षेप तो यह है कि कौन सी ध्वनियां सरल हैं और कौन सी जटिल ? अभी तक इसका निर्णय ही नहीं किया गया तो सरलता और जटिलता का प्रश्न ही नहीं उठता।

इन सब आक्षेपों का उत्तर आसानी से दिया जा सकता है। किसी काम को आसानी से करना आलस्य का चिह्न नहीं। जहां

परिश्रम की आवश्यकता हो वहाँ तो मनुष्य परिश्रम करेगा ही परन्तु जहाँ बिना परिश्रम किये काम अच्छी तरह सम्पन्न होता है वहाँ निरुद्देश्य परिश्रम करना तो मूर्खता की निशानी है। ध्वनियाँ परिवर्तित होकर सरल भी हो सकती हैं और जटिल भी। उनके परिवर्तन में अनेक कारण काम करते रहते हैं परन्तु जैसे पहाड़ी मार्गों पर चलने से छोटे रास्ते में अपेक्षाकृत कठिनाई अधिक होती है परन्तु समय और मार्ग की लम्बाई की दृष्टि से सुविधा होती है इसीलिये उसी को अपना लिया जाता है उसी प्रकार जटिल ध्वनियों को अपनाने में भी सुविधा को ही मूल कारण माना जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ध्वनियों की सरलता और जटिलता की कोई सर्वमान्य कसौटी नहीं है। जो ध्वनियाँ जिस समुदाय को सुविधाजनक दिखाई देती हैं वह समुदाय उन्हीं ध्वनियों को अपना लिया करता है। जैस्पर्सन ने ध्वनियों के उच्चारण में सुविधा का एक सिद्धांत अवश्य बताया है। यदि कोई व्यक्ति बड़ी तेजी से दौड़ रहा हो तो उसे दीवार को स्पर्श करके रुकने से आसानी होगी। यदि उसे बिना किसी सहारे के रुकना पड़े तो अधिक कठिनाई होगी। इसी प्रकार जब जीभ मूर्धा या दन्त को स्पर्श करके ध्वनि का उच्चारण करती है तो उसे कम कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसी लिये सघर्षी ध्वनियों की अपेक्षा स्पर्श ध्वनियाँ अधिक सरल होती हैं।[1]

संक्षेप में, भाषा परिवर्तन के कारण अनेक हैं, पर मूलकारण प्रयत्नलाघव ही है।

———

1. सघर्षी ध्वनियाँ जैसे फारसी की ख़, ग़, ज़, फ़, अंग्रेजी की थ, द। स्पर्श ध्वनियाँ जैसे हिन्दी की क, ख, ग, घ आदि। इनका विस्तृत विवरण आगे अध्याय ८ ध्वनियों का वर्गीकरण में देखिये।

अध्याय ५

भाषा के विभिन्न स्वरूप

भाषा के सामान्य स्वरूप की दृष्टि से सारे संसार की भाषायें एक हैं क्योंकि सभी भाषायें मानवीय ध्वनियों के रूप से विचार-विनिमय या विचार प्रकट करने का साधन हैं। फिर भी संसार की भाषायें एक नहीं हैं बल्कि एक दूसरे से भिन्न हैं। एक ही देश में अनेक भाषायें होती हैं। इन भाषाओं में पारस्परिक विभिन्नता इतनी स्पष्ट होती है कि कोई भी व्यक्ति इन्हें एक भाषा नहीं मान सकता। एक ही मूल भाषा से सम्बन्धित होते हुए भी हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषायें भिन्न हैं। इन भाषाओं की भी यदि संकुचित सीमाओं का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय तो इनकी अपनी सीमाओं में भी भाषा-विभिन्नता स्पष्ट दिखाई देने लगेगी। हिन्दी एक विशाल प्रदेश में बोली और समझी जाती है परन्तु सभी स्थानों में इसका स्वरूप एक सा नहीं है। यदि बहुत सूक्ष्म दृष्टि से कहा जाय तो एक व्यक्ति की भाषा दूसरे व्यक्ति की भाषा से भिन्न होगी। यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति एक बार उच्चरित ध्वनि का उच्चारण स्वयं उसी रूप में दुबारा नहीं कर सकता परन्तु हमारा ध्यान भाषा की इतनी सूक्ष्म भिन्नता की ओर नहीं जाता। यदि हम चाहें तो प्रत्येक व्यक्ति की भाषा सम्बन्धी भिन्नता का स्वरूप अवश्य समझ सकते हैं। हम दूर से परिचित व्यक्ति की आवाज सुन कर उसे पहचान लेते हैं क्योंकि हम उस व्यक्ति की भिन्न ध्वनियों से परिचित हैं प्रत्येक व्यक्ति की अपनी बोली को व्यक्ति बोली (Idiolect) कहा जाता है।

व्यक्तिगत भाषा-विभिन्नता से आगे बढ़ कर हम देखें तो प्रत्येक परिवार की बोली और दूसरे परिवार की बोली में अन्तर होता है। इसी प्रकार ग्राम, नगर और विशिष्ट सामाजिक दलों की भाषा में भी पारस्परिक

अन्तर दिखाई देता है। इन सब बोलियों की सीमा रेखायें निर्धारित करना कभी कभी अत्यन्त जटिल कार्य हो जाता है। अत्यन्त सूक्ष्म भिन्नताओं की ओर ध्यान न रखते हुए साधारणतया भाषा के तीन स्वरूप माने जाते हैं—१. बोली २. विभाषा ३. भाषा।

बोली

बोली (Patois) को उपभाषा भी कहा जाता है। यह स्थानीय ग्रामीण बोली होती है और प्राय: इस का सम्बन्ध समाज के निम्न-स्तर के साथ होता है। इसमें किसी प्रकार का साहित्य नहीं होता। इसके बोलने वालों में उच्चारण-सम्बन्धी व्यक्तिगत भिन्नतायें हो सकती है। परन्तु वे भिन्नतायें अत्यन्त स्पष्ट या महत्वपूर्ण नहीं होती। यदि किसी विशिष्ट ग्राम या समुदाय के उच्चारण में स्पष्ट भिन्नता आने लगे तो वह दूसरे ग्राम या समुदाय की तुलना में भिन्न बोली का क्षेत्र मान लिया जायगा। उदाहरण के तौर पर यदि किसी ग्राम के व्यक्ति 'दुर्गाप्रसाद' का उच्चारण 'दुरगा परसाद' या 'दुर्गापरसाद' आदि विभिन्न रूपों में करते हैं तो हम इसे व्यक्तिगत विशेषता तो कह सकते हैं पर बोली-गत भिन्नता नहीं। यदि किसी गाव या प्रदेश के लोग निम्न वाक्यों का भिन्न भिन्न रूप मे उच्चारण करते दिखाई देते हैं तो हम इन्हें भिन्न भिन्न बोलियो के वाक्य कह सकते हैं जैसे 'साँप दिख रहा है','साँप दीख रहा है','साँप दिखाई देरहा है'। इन तीनो वाक्यों में भिन्नता है और यह भिन्नता बोलीगत है। हमें इस बात को विशेष रूप मे स्मरण रखना है कि एक बोली बोलने वाला समुदाय दूसरी बोली बोलने वाले समुदाय की बात को समझ अवश्य जाता है भले ही वह उससे भिन्न स्वरूप का उच्चारण करता रहे।

विभाषा

विभाषा (Dialect) का क्षेत्र इससे अधिक व्यापक होता है। एक विभाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियां होती हैं। विभाषा भाषा का वह स्वरूप है जो विशेष प्रदेश में बोली जाती है और उच्चारण,

व्याकरणिक रूप और शब्द-प्रयोगों की दृष्टि से अन्य विभाषाओं से भिन्न रूप है परन्तु इतनी भिन्न नहीं कि उसे एक भाषा के क्षेत्र के अन्तर्गत न रखा जा सके। वैसे प्रत्येक विभाषा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता होती है, वह अपने अस्तित्व के लिये अन्य विभाषा या भाषा पर निर्भर नहीं होती। *बोलीगत विभिन्नता कोई महत्वपूर्ण विभिन्नता नहीं होती परन्तु विभाषागत* विभिन्नता महत्वपूर्ण होती है जिसकी उपेक्षा नहीं की जासकती। यही कारण है कि अधिकांश में भाषा के विभिन्न स्वरूपों पर विचार करते समय केवल दो भेद ही बताये जाते है—भाषा और विभाषा। उपभाषा या बोली को विभाषा का स्थानीय रूप मान लिया जाता है इसी लिये बोली, उपभाषा, प्रान्तीय भाषा आदि शब्द विभाषा के ही पर्यायवाची मान लिये जाते हैं। हिन्दी की विभाषायें अनेक हैं जैसे ब्रज, अवधी, खड़ी बोली इत्यादि।

भाषा

भाषा (Standard Language) को हिन्दी में स्टैण्डर्ड भाषा, टकसाली भाषा अथवा आदर्श भाषा भी कहा जाता है। यदि कोई विभाषा किसी कारणवश प्रमुखता प्राप्त करले और उसका प्रभुत्व अन्य विभाषायें स्वीकार करलें तो वह आदर्श या टकसाली भाषा बन जाती है। उदाहरण के तौर पर हिन्दी आदर्श भाषा है परन्तु खड़ी बोली का आदर्श रूप ही तो हिन्दी है। खड़ी बोली की प्रमुखता प्राप्त करने के कारण ही यह *विभाषा अन्य विभाषाओं के क्षेत्र पर आधिपत्य जमाये हुए है।*

विभिन्न भाषाओं की सीमा रेखायें निर्धारित करना अपेक्षाकृत आसान होता है परन्तु विभिन्न विभाषाओं की सीमायें निश्चित करना बहुत जटिल होता है। यद्यपि विभाषायें एक दूसरे से भिन्न होती हैं तथापि एक ऐसी शक्ति भी होती है जो एक ही भाषा के अन्तर्गत आने वाली विभिन्न विभाषाओं को एक दूसरे के साथ मिलाये रखती है। ब्रज और अवधी भिन्न विभाषायें हैं। परन्तु एक विभाषा को बोलने वाला व्यक्ति दूसरी विभाषा के क्षेत्र में पहुंचकर अपने आप को अजनबी नहीं समझता।

इन दोनों विभाषाओं के सीमावर्ती प्रदेशों में तो इन्हें अलग अलग क
और भी कठिन कार्य होता जाता है।

विभाषा की प्रमुखता प्राप्त करने के कारण अनेक होते हैं। मु
रूप में ये कारण राजनैतिक, साहित्यिक, धार्मिक और सामाजिक माने
सकते है। खड़ी बोली की प्रमुखता प्राप्त करने का मुख्य कार
राजनैतिक है। इसी प्रकार पैरिस की बोली फ्रेन्च भाषा बनी और लन्द
की अंग्रेजी बोली अन्य बोलियों की अपेक्षा प्रमुखता प्राप्त कर राजनैति
कारणों से ही भाषा का स्वरूप धारण किये है।

धार्मिक और साहित्यिक कारणों से ही ब्रज और अवधी भाषा
पद पर प्रतिष्ठित थीं। वैदिक काल में अनेक बोलियां थी परन्तु ऋग्वेद
सुरक्षित बोली धार्मिक और साहित्यिक कारणों से ही अधिक मान्य रही
यदि किसी विशिष्ट समाज का किसी प्रदेश पर प्रभुत्व छा जाये तो अन
सामाजिक क्षेत्रों के समान उसका भाषा के क्षेत्र में भी आधिपत्य हो जा
है और उसी विशिष्ट समाज की भाषा ही उस क्षेत्र की प्रमुख भाषा ब
जाती है। अमरीका के विशाल प्रदेश पर अंग्रेजी का प्रभुत्व इन्ही कार
से है।

जो विभाषा जिन कारणों से भाषा का स्वरूप अपनाती है वह उ
कारणों के दूर हो जाने के बाद फिर विभाषा बन जाया करती है। ब
और अवधी कभी भाषायें थीं परन्तु अब वे केवल विभाषा के रूप में
रह गई है। कई बार ऐसा भी होता है कि कोई एक विभाषा प्रमुख
प्राप्त करके अन्य छोटी छोटी विभाषाओं को आत्मसात् कर लेती है जैसे
लैटिन भाषा ने अपने आस पास की अनेक बोलियों को आत्मसात् कर
लिया है और कई बार भाषा में अपने आप ही विभाषाओं की अने
विशेषतायें दिखाई देने लगती हैं। यह प्राय: भाषा के अपेक्षाकृत अधि
विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हो जाने के कारण हुआ करता है। हिन्दी ए
विशाल प्रदेश की भाषा है। इसीलिये उसमें पन्जाबीपन, बिहारीप
आ जाना स्वाभाविक ही है।

साहित्यिक भाषा

भाषा के मूल रूप तो यही तीन हैं परन्तु कई बार भाषा के साथ अन्य अनेक विशेषण जोड़े जाते हैं जिन के कारण भाषा के अनेक स्वरूप प्रचलित दिखाई देते हैं। जैसे साहित्यिक भाषा सामान्य व्यवहार की भाषा से भिन्न होती है। यह अपेक्षाकृत अधिक सुसज्जित, लेखबद्ध, नियमित और लिखित परम्परा के कारण अमिट होती है। हिन्दी का एक स्वरूप—सामान्य व्यवहृत भाषा का है तो दूसरा रूप साहित्यिक भाषा का भी। साहित्यिक भाषा के कभी कभी दो और वर्ग भी किये जाते हैं—(१) विशुद्ध साहित्यिक जिसका व्यवहार केवल साहित्यिक क्षेत्र में हो, सामान्य व्यवहार में जिसका प्रयोग न किया जाय जैसे सस्कृत। (२) साहित्यिक जो सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होने के साथ साथ साहित्यिक हो, जैसे, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि।

राष्ट्रभाषा

राष्ट्रभाषा शब्द का प्रयोग उस भाषा के लिये किया जाता है जो भाषा के सामान्य क्षेत्र से भी आगे बढ़ कर अधिक विस्तृत क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमा ले। भारतवर्ष में गुजराती, मराठी आदि भाषायें भी हैं साहित्यिक भाषायें भी। परन्तु उन्हें राष्ट्र-भाषा नहीं कहा जा सकता। यह स्थान तो केवल एक ही भाषा अर्थात् हिन्दी को दिया जा सकता है। साधारण तौर पर जो राष्ट्र भाषा होती है वही राज्यभाषा के पद पर प्रतिष्ठित की जाती है परन्तु कभी कभी राजनैतिक कारणों से राष्ट्र-भाषा को यह स्थान न देकर किसी अन्य भाषा को राज्य भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। भारतवर्ष में अभी तक अंग्रेजी को यह स्थान प्राप्त है यद्यपि हमारे सविधान में अब हिन्दी का वह स्थान स्वीकार कर लिया गया है। पाकिस्तान के किसी प्रदेश में उर्दू का स्थान न बोली का है और न भाषा का परन्तु उसे पाकिस्तान की राज्यभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। जब कोई भाषा किसी विशेष राष्ट्र की सीमाओं

को भी पार कर जाती है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अथवा विश्व-भाषा कह दिया जाता है । कभी सारे योरप में फ्रैञ्च का यही स्थान था । व्यापार की दृष्टि से आज अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा मानी जा सकती है। वैसे इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि सारे संसार में कोई एक भाषा व्यापक रूप में बोली या समझी नही जाती । इस लिये पूर्णतया विश्वभाषा जैसी किसी भाषा का कोई अस्तित्व नहीं माना जा सकता—केवल कुछेक राष्ट्रों में अधिक प्रचलित होने के कारण अंग्रेजी आदि को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कह दिया जाता है।

कृत्रिम भाषा

वैसे तो भाषा स्वाभाविक रूप में विकसित होती है । उसका निर्माण नही किया जाता । परन्तु आधुनिक युग मे कई कारणो से कुछ भाषाओं का निर्माण भी किया गया है । उन्हें कृत्रिम भाषा कहा जाता है। इस प्रकार की एक भाषा एस्पिरेन्तो (Esperanto) है। इस मे कोई सन्देह नही कि आज विश्व को एक विश्व भाषा की आवश्यकता है। इस विश्व भाषा के न होने के कारण अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सघटनो को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । इसी मूल भावना से प्रेरित होकर ही डा० लुई जुमेनहाफ (Louis Zomenholf) ने एस्पिरेन्तो का निर्माण किया था। इसका ही एक विकसित रूप इडो (Ido) भाषा भी है। परन्तु बोलचाल का स्वाभाविक आधार न होने के कारण इन भाषाओ का विशेष प्रसार व विकास देखने को नही मिलता । भारतवर्ष मे हिन्दी-उर्दू विरोध के समाधान सोचते सोचते एक कृत्रिम हिन्दुस्तानी का निर्माण किया जा लगा था परन्तु स्वतन्त्रता के बाद इस विरोध के क्षीण हो जाने के का इस का भी विकास नही किया जा सका । चोर या बच्चे भी कभी कभी कुछ कृत्रिम भाषाओ का निर्माण कर लिया करते हैं ।

विशिष्ट भाषा

समाज के विशिष्ट लोगो की अपनी ही एक भाषा होती है, जिसे

विशिष्ट भाषा कहा जाता है। विभिन्न व्यवसायों मे काम करने वाले ...स कुछ ऐसे शब्दों का व्यवहार करते है जो उनके अपने व्यवसाय की ...षा मे तो सामान्य-व्यवहृत माने जा सकते हैं परन्तु अन्यत्र नही। इसीलिये वह भाषा उन्ही विशिष्ट लोगो तक सीमित रह जाती है। विशिष्ट भाषा का अन्तर अधिकतर केवल विशिष्ट शब्दावली तक ही सीमित रहता है। किसी कार्यालय मे काम करने वाले क्लर्क कितने ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका अर्थ सामान्य लोगों को नहीं आता। जैसे—"ओ० एस० ने जब एस०ओ० की रिपोर्ट की।" 'ओ० एस०' और 'एस०ओ०' से अभिप्राय 'आफिस सुपरिन्टेण्डेण्ट' और 'सेक्शन आफिसर' से होता है, जिसे केवल उसी कार्यालय में काम करने वाले या उनके निकट सम्पर्क मे रहने वाले व्यक्ति ही समझते हैं।

कभी कभी जानबूझ कर भाषा को बिगाड़ कर बोला जाता है और वह विकृत रूप कुछ लोगो मे इतना प्रचलित हो जाता है कि वह भी उस समुदाय का सामान्य व्यवहृत रूप बन जाता है। इसी को विकृत बोली (slang) कहा जाता है। समोसा को समोस, 'पेटी को पेट, प्रसाद को परशादाजी, रोटी को रोटा जी कहना इसी प्रकार के प्रयोग हैं। कभी कभी प्यार में शब्दों को विकृत कर दिया जाता है। इसी लिये स्वीट (sweet) से स्वीटी (sweetie) शब्द बन जाता है और बहू का बहुरिया रूप इसी विकार के परिणामस्वरूप ही हैं। हिन्दी में सुनाओ राजा या पंजाबी में सुणाओ सोहणेओ या बादशाहो इसी प्रकार के विकृत प्रयोग हैं।

स्वर-ध्वनियां

मूल स्वर

ह्रस्व—अ इ उ

दीर्घ—आ, ई, ऊ, ए, ओ।

बोलियों में प्रयुक्त अन्य स्वर[1]

ह्रस्व—अ, इ, उ, ए, ए, ऍ, ओ, ओ।

दीर्घ—ऍ, ऑ।

अंग्रेजी तत्सम शब्दों में प्रयुक्त

दीर्घ—ऑ

संयुक्त स्वर

ऐ, औ

हिन्दी में लिखित रूप के अनुसार यद्यपि 'ऋ' ध्वनि भी जाती है परन्तु इसका उच्चारण 'रि' के समान होता है इसलिये । की स्वर ध्वनियों में इसका समावेश न करना ही ठीक है।

इस पुस्तक के प्रथम भाग के आठवें अध्याय, ध्वनियों का में मानस्वरों का उल्लेख किया गया है उस दृष्टि से हिन्दी की स्वरूप निम्न चित्र में दिया जाता है।

१. वर्णों के साथ जो चिह्न लगाये गये हैं उनका अर्थ इस हैं।—वर्ण के नीचे का यह चिह्न सामान्य ध्वनि से भिन्नता लिये है। ० वर्ण के नीचे का यह चिह्न फुसफुसाहट को व्यक्त करता वर्ण के नीचे का यह चिह्न सामान्य तौर पर दीर्घ मानी जाने वाली के ह्रस्वत्व को बताता है। ˇ वर्ण के ऊपर का यह चिह्न उसके स्वरूप को स्पष्ट करता है। ˇ वर्ण के ऊपर और नीचे के ये दो ह्रस्वत्व और अर्द्धविवृतत्व दोनों को प्रकट करते हैं।
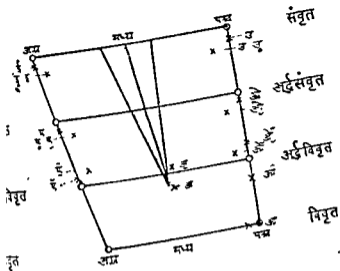
इन स्वरों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

(१) अ : साहित्यिक हिन्दी और बोलियों में इस ध्वनि का व्यवहार होता है। यह अर्द्धविवृत मध्य स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग ऊपर उठता है और होंठ कुछ खुल जाते हैं।

(२) आ : इस का प्रयोग भी साहित्यिक हिन्दी और बोलियों दोनों में होता है। साधारणतया इसको 'अ' ध्वनि का दीर्घ रूप मान लिया जाता है परन्तु वस्तुतः मात्रा भेद के साथ साथ स्थान भेद की दृष्टि से भी यह ध्वनि 'अ' से भिन्न है।

(३) ऑ : यह ध्वनि न तो पूर्णतया विवृत है और न अर्द्धविवृत। यह पश्च दीर्घ स्वर है। हिन्दी 'आ' ध्वनि से यह भिन्न है क्योंकि इसके उच्चारण में जिह्वा का पश्च भाग अपेक्षाकृत अधिक ऊपर उठता है और होंठ कुछ गोलाकार अधिक हो जाते हैं। अंग्रेजी में इस का व्यवहार होता

को देता है; मैंने पुस्तक देखी है। जब दो कर्म साथ साथ आते हैं 'को' प्राणिवाचक के साथ लगता है और अप्राणिवाचक के परसर्ग नहीं लगता। जैसे—मैं राम को पुस्तक देता हूं। संस्कृत प्रकार के वाक्य में 'राम' के साथ चतुर्थी विभक्ति (सम्प्रदान), और 'पुस्तक' के साथ द्वितीया (कर्म)। इससे भी यह बात स्पष्ट हो है कि 'को' का सम्बन्ध सम्प्रदान कारक के साथ अधिक है। अ के साथ भी 'को' परसर्ग लगता है, जैसे—"उसने दिल्ली के बनाया"। वस्तुत. प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक के भेद को न दे उसके ऐतिहासिक रूप की ओर ध्यान देना अधिक ठीक होगा।

अन्य कारक-रूप कर्ता और क्रिया के मध्य ही प्रयुक्त होते थे। निश्चित क्रम को विशेष नियमों में नहीं बांधा जा सकता आवश्यक नहीं कि किसी एक वाक्य में सारे कारकों का प्रयोग साधारणतया सकर्मक क्रियाओं में कर्म क्रिया के नजदीक रहता है इस कर्म क्रिया से पूर्व और कर्ता के बाद अन्य कारक रूप आते हैं। स ऐसा कोई नियम नहीं था। हिन्दी में इस नियम का स्वतन्त्र विकास हुआ

हिन्दी में विशेषण और विशेष्य इकट्ठे आते हैं; क्रम की दृष्टि विशेषण पहले आता है और विशेष्य बाद में, जैसे—वह सुन्दर लड़का कभी कभी विशेष्य अन्तर्भुक्त होजाता है। परिणामस्वरूप विशेषण प्रयोग बिना विशेष्य के होता है, जैसे—वह सुन्दर है। 'सुन्दर' और 'है मध्य विशेष्य अन्तर्भुक्त है। संस्कृत में विशेषण विशेष्य का अनुयायी है, अर्थात् विशेष्य के लिंग, वचन और कारक के अनुसार ही लिंग, वचन और कारक होते हैं, जैसे—सुन्दरः बालः, सुन्दरी नारी, कमलम्; सुन्दराः बालाः, सुन्दर्यः नार्यः, सुन्दराणि कमलानि। हिन्दी में भी विशेषण विशेष्य का अनुयायी होता है परन्तु आवश्यक कि उसमें लिंग कारक और वचन की दृष्टि से अवश्य भिन्नता हो। के तमाम विशेषणों में प्रायः यह भिन्नता देखने को नहीं मिलती। सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की, सुन्दर लड़के, सुन्दर लड़कियां इत्यादि

स्तुतः विशेष्य के साथ हमेशा जुड़े रहने के कारण उनमे परिवर्तन लाने
ी कोई आवश्यकता नही रह जाती। तद्भव शब्दों मे यह भिन्नता प्राय
होती है, जैसे—अच्छा लड़का, अच्छी लडकी, अच्छे लडके आदि। संस्कृत
लिंग शब्दों के हिन्दी मे आजाने पर लिंग भेद न होने का कारण सम्भवतः
स्कृत के समास हैं। दो पदों के समासरूप मे जुड जाने पर पहले पद में
सी प्रकार का रूप-परिवर्तन नहीं होता। जैसे—सुन्दरबालः, सुन्दरबाला
दि।

हिन्दी में कारक अर्थ को प्रकट करने वाले परसर्ग हैं। इन का प्रयोग
ज्ञा-शब्दों के बाद किया जाता है। अंग्रेजी मे कारक अर्थ को प्रकट करने
ाले रूपों को पूर्वसर्ग (Preposition) कहा जाता है। ये संज्ञा शब्द से
र्व प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत मे कारक अर्थ को प्रकट करने वाली विभक्तियाँ
ज्ञा शब्द के अन्त मे लगती हैं, साधारण नियम कारक के स्वतन्त्र शब्दों
े लिये भी यही है कि वे संज्ञा शब्द के बाद ही प्रयुक्त हो। संज्ञा शब्द
ौर कारक शब्द मे समास भी हो जाता है, ऐसा दशा मे भी कारक शब्द
ाद में ही प्रयुक्त होता है। जैसे—धर्माय या धर्मार्थम्। विशेषण के साथ
रसर्ग का प्रयोग हिन्दी मे नहीं होता। इस का कारण यही है कि हिन्दी
ौर संस्कृत दोनो की वाक्य-योजना की दृष्टि से विशेषण स्वतन्त्र नहीं है,
ह पूर्णतया विशेष्य पर आधारित है।

साधारणतया हिन्दी के प्रत्येक वाक्य मे एक क्रिया ही है परन्तु क्रिया
ा व्यवहार संज्ञा-शब्द के समान होता है और पूर्वकालिक क्रिया के कृदन्त
ा रूप भी व्यवहृत होता है। ऐसी दशा मे एक से अधिक क्रियायें एक
ाक्य मे हो सकती हैं। जैसे क्रियार्थ संज्ञा—वह पढ़ने के लिये आया है;
ूर्वकालिक—वह पढ़ कर चला जायेगा। दो स्वतन्त्र वाक्यों को
समुच्चयबोधक अव्ययों द्वारा भी जोड़ा जाता है। अंग्रेजी मे किसी की
कही हुई बात या वर्णन करने के लिये वाक्यो को दो रूपों मे प्रस्तुत किया
जाता है—१. प्रत्यक्ष (Direct) और २. अप्रत्यक्ष (Indirect)।
संस्कृत की वाक्य योजना ऐसी नहीं कि इस प्रकार के वाक्यों को दो रूपो

में प्रस्तुत किया जाये । उदाहरण के तौर पर अंग्रेजी के ये दो वाक्य इस प्रकार हैं—

प्रत्यक्ष—He said, "I shall go to Delhi".

अप्रत्यक्ष—He said that he will go to Delhi.

परन्तु संस्कृत में इसका केवल एक ही रूप होगा—सोऽवदत् यदहं दिल्लीं प्रति गमिष्यामि । हिन्दी की वाक्य योजना में भी वस्तुतः एक ही रूप मान्य है—उस ने कहा कि मैं दिल्ली जाऊंगा। संस्कृत की वाक्ययोजना में हम चाहें तो 'यत्' का प्रयोग न भी करें । वस्तुतः प्राचीनता की दृष्टि से इस का प्रयोग नहीं होता—सोऽवदत अहं गमिष्यामि इति । इसी प्रकार यदि हम चाहें तो फारसी प्रभाव के कारण आये 'कि' अव्यय को छोड़ सकते हैं—परन्तु यह कहना "उसने कहा वह दिल्ली जायेगा" हिन्दी की वाक्ययोजना की दृष्टि से ठीक नहीं । आजकल अंग्रेज़ी प्रभाव के कारण हिन्दी के वाक्यों में कहीं कहीं ऐसी प्रवृत्ति दिखाई देने लग गई है । कई वार यह भी कहा जाता है कि यह प्रवृत्ति स्पष्टता लाने के लिये है परन्तु ऐसी बात नहीं । "उसने कहा वह दिल्ली जायेगा।" इस वाक्य से यह पता चलता है कि कहने वाला दिल्ली नहीं बल्कि कोई अन्य व्यक्ति दिल्ली जा रहा है । अंग्रेज़ी वाक्य योजना से अपरिचित व्यक्ति को तो इस में अस्पष्टता ही दिखाई देगी ।

हिन्दी में स्वराघात प्रायः नहीं है परन्तु वाक्य के अन्त में एक प्रकार का सुर (Intonation) अवश्य है । हिन्दी में यह सुर सार्थक है । इस का प्रयोग सामान्य वाक्यों को प्रश्न सूचक, आश्चर्यवाचक आदि बनाने के लिये किया जाता है । जैसे—

वह दिल्ली जायेगा ।

वह दिल्ली जायेगा ?

वह दिल्ली जायेगा !

वाक्य-रचना सम्बन्धी इस विशेषता को लिपि में प्रश्न सूचक या आश्चर्यवाचक चिह्न द्वारा प्रकट किया जाता है ।

परिशिष्ट १

देवनागरी लिपि

भाषाविज्ञान मे भाषा का भाषित रूप ही मुख्य है लिखित रूप नही इसलिये भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में लिपि का कोई महत्व नही। फिर भी इस मे कोई सन्देह नही कि हमारे लिये प्राचीन काल की भाषा का स्वरूप उपलब्ध कराने मे लिपि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यदि लिपि न होती तो हम वैदिक सस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं का स्वरूप न समझ सकते। आज भी अनेक भाषायें लिपिवद्ध न होने के कारण भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में अनेक समस्यायें पैदा कर रही हैं। इसलिये भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन मे सहायक होने के कारण लिपि का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

भाषा पर लिपि का भी प्रभाव पडता है। रोमन लिपि के प्रभाव के कारण आजकल कितने ही हिन्दी सस्कृत के शब्दो का विकृत उच्चारण किया जाता है। गुप्त के स्थान पर गुप्ता, वेद के स्थान पर वेदा, इस के कुछ उदाहरण हैं। गुरुमुखी लिपि मे सयुक्त ध्वनियों को लिपिवद्ध करने के प्राय: लिपि-चिन्ह या वर्ण नही हैं इसी कारण अनेक सयुक्त रूप में उच्चरित ध्वनियों का पंजाबी में लोप होता जा रहा है।

हमे यह मानना पड़ेगा कि लिपि भाषा को अङ्कित करने का एक अपूर्ण साधन है। सम्भव है कि भारतीय आर्य भाषा के ऐतिहासिक विकास के अन्तर्गत कितनी ही ध्वनिया प्रकट हुई होगी कितने ही उच्चारण रूप बदले होंगे परन्तु आज उन्हें जानने या समझने का हमारे पास कोई साधन नहीं। हमे लिपि द्वारा उपलब्ध सामग्री पर ही सन्तोष करना पडता है अथवा हम चाहे तो भाषा विकास के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा कुछ कल्पनायें

में प्रस्तुत किया जाये। उदाहरण के तौर पर अंग्रेजी के ये दो वाक्य इस प्रकार हैं—

प्रत्यक्ष—He said, "I shall go to Delhi".

अप्रत्यक्ष—He said that he will go to Delhi.

परन्तु संस्कृत में इसका केवल एक ही रूप होगा—सोऽवदत् यदहं दिल्ली प्रति गमिष्यामि। हिन्दी की वाक्य योजना में भी वस्तुतः एक ही रूप मान्य है—उस ने कहा कि मैं दिल्ली जाऊंगा। संस्कृत की वाक्ययोजना में हम चाहें तो 'यत्' का प्रयोग न भी करें। वस्तुतः प्राचीनता की दृष्टि से इस का प्रयोग नहीं होता—सोऽवदत अहं गमिष्यामि इति। इसी प्रकार यदि हम चाहें तो फारसी प्रभाव के कारण आये 'कि' अव्यय को छोड़ सकते हैं—परन्तु यह कहना "उसने कहा वह दिल्ली जायेगा" हिन्दी की वाक्ययोजना की दृष्टि से ठीक नहीं। आजकल अंग्रेजी प्रभाव के कारण हिन्दी के वाक्यों में कहीं कहीं ऐसी प्रवृत्ति दिखाई देने लग गई है। कई बार यह भी कहा जाता है कि यह प्रवृत्ति स्पष्टता लाने के लिये है परन्तु ऐसी बात नहीं। "उसने कहा वह दिल्ली जायेगा।" इस वाक्य से यह पता चलता है कि कहने वाला दिल्ली नहीं बल्कि कोई अन्य व्यक्ति दिल्ली जा रहा है। अंग्रेजी वाक्य योजना से अपरिचित व्यक्ति को तो इस में अस्पष्टता ही दिखाई देगी।

हिन्दी में स्वराघात प्रायः नहीं है परन्तु वाक्य के अन्त में एक प्रकार का सुर (Intonation) अवश्य है। हिन्दी में यह सुर सार्थक है। इस का प्रयोग सामान्य वाक्यों को प्रश्न सूचक, आश्चर्यवाचक आदि बनाने के लिये किया जाता है। जैसे—

वह दिल्ली जायेगा।
वह दिल्ली जायेगा?
वह दिल्ली जायेगा!

वाक्य-रचना सम्बन्धी इस विशेषता को लिपि में प्रश्न सूचक या आश्चर्य-वाचक चिह्न द्वारा प्रकट किया जाता है।

परिशिष्ट ४

देवनागरी लिपि

भाषाविज्ञान मे भाषा का भाषित रूप ही मुख्य है लिखित रूप नही इसलिये भाषा वैज्ञानिक अध्ययन मे लिपि का कोई महत्त्व नही। फिर भी इस में कोई सन्देह नहीं कि हमारे लिये प्राचीन काल की भाषा का स्वरूप उपलब्ध कराने मे लिपि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि लिपि न होती तो हम वैदिक संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं का स्वरूप न समझ सकते। आज भी अनेक भाषायें लिपिबद्ध न होने के कारण भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में अनेक समस्यायें पैदा कर रही हैं। इसलिये भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन मे सहायक होने के कारण लिपि का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

भाषा पर लिपि का भी प्रभाव पड़ता है। रोमन लिपि के प्रभाव के कारण आजकल कितने ही हिन्दी संस्कृत के शब्दों का विकृत उच्चारण किया जाता है। गुप्त के स्थान पर गुप्ता, वेद के स्थान पर वेदा, इस के कुछ उदाहरण हैं। गुरुमुखी लिपि मे संयुक्त ध्वनियों को लिपिबद्ध करने के प्रायः लिपि-चिन्ह या वर्ण नहीं हैं इसी कारण अनेक संयुक्त रूप में उच्चरित ध्वनियों का पंजाबी में लोप होता जा रहा है।

हमें यह मानना पड़ेगा कि लिपि भाषा को अङ्कित करने का एक अपूर्ण साधन है। सम्भव है कि भारतीय आर्य भाषा के ऐतिहासिक विकास के अन्तर्गत कितनी ही ध्वनियां प्रकट हुई होंगी कितने ही उच्चारण रूप बदले होंगे परन्तु आज उन्हे जानने या समझने का हमारे पास कोई साधन नहीं। हमे लिपि द्वारा उपलब्ध सामग्री पर ही सन्तोष करना पड़ता है अथवा हम चाहे तो भाषा विकास के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा कुछ कल्पनायें

ही कर सकते हैं। आजकल भाषा रूप को सुरक्षित रखने का अच्छा वैज्ञानिक साधन लिपि न होकर ध्वनि अंकन (Recording) है परन्तु प्राचीन भाषायें ध्वनि-अङ्कित होकर हमारे सामने नहीं हैं इसलिये लिपि के द्वारा ही चाहे अपूर्ण ही क्यों न हो, हमें भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करना होता है।

लिपि का विकास

इतनी बात निश्चित है कि पहले भाषा बनी और लिपि का विकास बाद में हुआ, परन्तु यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि लिपि कब बनी। जिस प्रकार परम्परावादी भाषा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धांत पर विश्वास करते हैं उसी प्रकार लिपि के सम्बन्ध में भी उनकी वैसी धारणा है। भारत की प्राचीन लिपि का नाम ब्राह्मी है। यह कहा जाता है कि इसका निर्माण ब्रह्म या ब्रह्मा ने किया इसलिये इसका नाम ब्राह्मी है। इस प्रकार यहूदी लोगों की धारणा है कि लिपि का निर्माण मूसा (Moses) ने किया था। परन्तु इस प्रकार की धारणाओं का कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर यह कहा जाता है कि भाषा के समान लिपि का भी विकास हुआ है।

यह माना जाता है कि प्राचीनतम लिपियों के दो रूप थे—१. चित्रलिपि २. सूत्र लिपि। चित्रलिपि में चित्रों के द्वारा भाव को प्रकट किया जाता है। ऐरिजोना (अमरीका) में एक ऐसी चित्रलिपि मिली भी है। सूत्रलिपि में भाव प्रकट करने के लिये रस्सी आदि की गाँठें लगा दी जाती थी। सूत्रलिपि को पूर्णतया लिपि नहीं कहा जा सकता। यह एक प्रकार से स्मृति सहायक चिन्ह या संकेत (Memory Aid) का काम देती थी। इसलिये लिपि का वास्तविक विकास चित्रलिपि से हुआ है। पहले स्थूल चित्र बनाये जाते थे, बाद में सूक्ष्म भावों को प्रकट करने वाले चित्र बनाये जाने लगे। पर्वत का चित्र केवल पहाड़ का ही बोध नहीं कराता बल्कि उच्चता, महात्ता आदि सूक्ष्म भावों का भी प्रतीक बनने लगा। इस प्रकार

वत्‌लिपि ने भाव लिपि का रूप धारण करना शुरू कर दिया। इस प्रकार
ी एक कूनी लिपि मिली है जिसका प्रयोग बेबीलोन में ४००० ईसा पूर्व
क माना जाता है। तिकोनी होने के कारण इसे तिकोनी लिपि
Cuniform Script) या कीलाक्षर लिपि भी कहा जाता है। यही
ीरे धीरे अक्षरात्मक और अक्षरात्मक (Syllabic) की स्थिति में गुजरती
ई ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक (Alphabetic) हो गई। अक्षरात्मक और
र्णात्मक लिपि में यह अन्तर है कि अक्षरात्मक लिपि की कम से कम
काई में एक से अधिक वर्ण जुड़े हुए होते हैं, परन्तु वर्णात्मक लिपि में
त्येक इकाई स्वतन्त्र वर्ण होती है। देवनागरी लिपि अक्षरात्मक है[1]—
=क्+अ; क्ष=क्+ष् इत्यादि। रोमन लिपि वर्णात्मक है—Rama
न में प्रत्येक वर्ण एक दूसरे से पृथक् है।

संसार की प्राचीन लिपियों में मुख्यतः फोनीशियन, दक्षिण सामी
ीक, लैटिन, आर्मेइक, हीब्रू, अरबी, खरोष्ठी और ब्राह्मी का उल्लेख किया
ाता है।

ारतीय लिपियाँ

प्रायः जैन और बौद्धसाहित्य में अनेक लिपियों का उल्लेख मिलता
है परन्तु प्राचीन काल में भारत में प्रचलित दो लिपियों का स्वरूप ही इस
मय उपलब्ध है। ये दो लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। इनका
सबसे प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में देखने को मिलता है जिन
ा समय तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व है। इनको देखते हुए प्रायः पाश्चात्य

१. प्रो. जे. बर्टन पेज का विचार है कि देवनागरी लिपि पूर्णतया
अक्षरात्मक नहीं है।

"In other words, the Devanagari script as applied to Hindi, although syllabic in its conception is now neither fully syllabic nor yet fully alphabetic; the principle of writing is rather morpho-phonemic." J. Burton Page, Indian Linguistics II 1959 p. 171 (Turner Jubilee Volume).

विद्वान् यह कह दिया करते हैं भारत मे लिपि का अस्तित्व चार या पाँच सौ वर्ष ईसा पूर्व ही हुआ परन्तु यह बात ठीक नहीं। मोहनजोदारो और हडप्पा मे जो लेख अंकित हैं उनसे यह स्पष्ट ही है कि भारत मे लिपि का अस्तित्व कई हजार वर्ष पूर्व था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन स्थानों की लिपि न तो ब्राह्मी है न खरोष्ठी परन्तु इससे इतनी बात तो अवश्य निश्चित हो जाती है कि इन स्थानो की कोई लिपि है। अभी तक मोहेनजोदारो और हडप्पा का सम्बन्ध निश्चित तौर पर किसी भी सभ्यता से नही जोड़ा जा सका है इस लिये यह तो नही कहा जा सकता कि इसका सम्बन्ध वैदिक सभ्यता के साथ है परन्तु इसमें भारतीय सभ्यता के पुरातन रूप के कुछ अवशेष-चिह्न हैं ऐसा तो अवश्य कहा जा सकता है।

अशोक के शिलालेखो से पूर्व के भी दो लेख मिले हैं। एक अजमेर जिले के बड़ली गाव मे है और सम्भवत: ईसा पूर्व पाचवी सदी का है। इसकी एक पंक्ति मे 'चतुरासिति' खुदा हुआ है। इसका अर्थ है ८४। यदि चौरासी को भगवान् महावीर के निर्वाण सवत् का ८४वाँ वर्ष समझ लें तो यह लेख ईसा पूर्व ४४३ वर्ष का होना चाहिये। महावीर का निर्वाण संवत् ५२७ ई० पू० है (५२७—८४=४४३)। दूसरा लेख पिप्रावा नामक स्थान पर है। यह स्थान नेपाल की तराई पर है। इस लेख मे यह पता चलता है कि यहाँ पर शाक्य जाति के लोगो ने भगवान् बुद्ध की अस्थियाँ स्थापित की थी। सम्भवत: यह लेख बुद्ध के निर्वाण काल (४८७ ई० पू०) के कुछ ही बाद का है। ये दोनो लेख ब्राह्मी लिपि मे हैं।

इस प्रकार पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व के लेख मिलने से इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इससे अनेक वर्ष पूर्व भारत मे लिपि प्रचलित थी। वैसे भी प्राचीन साहित्य के उल्लेखो से लिपि के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। वेदो मे गणना सम्बन्धी उल्लेख हैं, दस से लेकर परिधि तक सख्याओ के उल्लेख हैं। बिना लिपि की सहायता के अपरिमेय सख्याओ की गणना असम्भव है। छान्दोग्य उपनिषद् मे अक्षरों के बारे मे लिखा हुआ है। पाणिनि ने भी लिपि का

उल्लेख किया है। जातक ग्रन्थो मे भी पुस्तको आदि का उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल से भारतीयो को लिपि का ज्ञान था। दुर्भाग्य से बहुत सी सामग्री काल-प्रवाह मे विलीन हो गई है अथवा विदेशियो द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर दी गई है, इस लिये प्राचीनतम लिपि का स्वरूप अज्ञात है और न ही निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि किस समय से भारत मे लिपि प्रचलित है। कुछेक विद्वान् वेदों का संहिता काल ०० ईसा पूर्व मानते हैं। उनकी यह धारणा है कि इसी समय के आस- भारत मे लिपि का स्वरूप निश्चित हुआ होगा और वेदो का संकलित रूप लिपिबद्ध कर दिया गया होगा।

खरोष्ठी लिपि

ऊपर कहा जा चुका है कि भारत की दो प्राचीन लिपियाँ मिलती हैं। इनमे से एक खरोष्ठी है। अशोक के शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा वाले लेखों मे इसी लिपि का प्रयोग किया गया है। इसके पूर्व (चौथी सदी ई० पू०) के कुछ ईरानी सिक्के भी इस लिपि में मिलते हैं। अशोक के बाद भारत मे इस लिपि का प्रयोग अधिकांश मे विदेशी राजाओ द्वारा किया गया। यह लिपि दायें से बायें ओर लिखी जाती है।

खरोष्ठी शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। कुछ लोगो का विचार है कि आर्मेइक भाषा मे एक शब्द खरोट्ठ है। क्योंकि इस लिपि का सम्बन्ध आर्मेइक लिपि से माना जाता है इस लिये अनुमान है कि आर्मेइक के खरोट्ठ शब्द के संस्कृत रूप खरोष्ठ या खरोष्ठी को इस लिपि के लिये अपना लिया गया होगा। एक दूसरे मत के अनुसार खरोष्ठी का मूल रूप खरपृष्ठी माना जाता है। इस विचार को प्रस्तुत करने वालो की धारणा है कि यह प्राचीन काल मे गधे की खाल पर लिखी जाती होगी। इसलिये इस का नाम खरपृष्ठी > खरोष्ठी हो गया। इसी से मिलता जुलता एक अन्य शब्द खरपोस्त है। इसका अर्थ भी गधे की खाल है। एक और मत के अनुसार खरोष्ठी का मूल रूप खरोष्ठी ही है। खरोष्ठी का अर्थ है गधे

फोनेशियन लिपि के 'गिमेल' वर्णों मे ही समानता है । भारतीयों और फोनेशियन लोगो के प्राचीन सम्बन्ध का कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नही होता। लोगो के प्राचीन सम्बन्ध का कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नही होता। डिरिंजर का विचार है कि भारतीयों और फोनेशियन लोगों का परस्पर सम्बन्ध था ही नही।[1] इस लिये फोनेशियन से ब्राह्मी के विकास की बात ठीक नहीं मानी जा सकती।

बूलर का मत है कि ब्राह्मी का विकास उत्तर सामी लिपि से हुआ है तथा टेलर और सेन आदि का विचार है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति दक्षिण सामी लिपि से हुई है। इस मत के मानने वाले विद्वानों के विचारों मे कोई सार नही है । उत्तरी सामी से उत्पत्ति मानने वालो का एक मुख्य तर्क यह है कि उत्तरी सामी और ब्राह्मी दोनो दायें से बाएँ लिखी जाती हैं। वस्तुतः बात ऐसी नही है । ब्राह्मी के अधिकाश लेख बाएं से दायें (आजकल देवनागरी के समान) लिखे हुये मिलते हैं। जो लेख इस के विपरीत मिलते हैं, वह अवश्य किसी असावधान लेखक द्वारा लिखे गये हैं। उनके आधार पर उत्तरी सामी से ब्राह्मी के विकास की कल्पना करना उचित नही।

इसी प्रकार एक फ्रेन्च विद्वान् कुपेरी का यह मत है कि ब्राह्मी का विकास चीनी लिपि से हुआ होगा परन्तु इस मत में कोई सार न होने के कारण इस ओर कोई ध्यान ही न दिया गया। खरोष्ठी और ब्राह्मी मे बहुत अधिक अन्तर है इस लिये दोनों के किसी प्रकार के परस्पर सम्बन्ध की तो कल्पना ही नही की जा सकती।

ब्राह्मी का आविष्कार और विकास भारत मे ही हुआ है—उसे बिना किसी प्रमाण के किसी अन्य लिपि के साथ जोडना सर्वथा अनुचित है। यह तो नही बताया जा सकता कि ब्राह्मी का स्वरूप कैसे बना परन्तु

1. The Alphabet.

वह बनी यहीं पर ही इतनी बात अवश्य मानी जा सकती है। ब्राह्मी की उत्पत्ति का एक आधार तान्त्रिक विधियां मानी जाती हैं। पूजा करते समय अनेक चिह्न बनाये जाते हैं—उन्हीं चिन्हों द्वारा लिपि का विकास हुआ होगा—ऐसी सम्भावना की जाती है।

ब्राह्मी लिपि की मुख्य रूप से दो शाखायें हैं—१ उत्तरी और २. दक्षिणी। उत्तरी के अन्तर्गत मुख्य लिपियां चार थी—१. गुप्तलिपि—इस का सम्बन्ध गुप्तवंशी राजाओं के साथ था और यह ईसा की चौथी पांचवी शती तक व्यवहृत होती रही। २. कुटिल लिपि—गुप्त लिपि से ही इस का विकास हुआ। इसका व्यवहार छठी से नौवीं शताब्दी तक होता रहा। इसके वर्णों की आकृति कुछ टेढ़ी होने के कारण इसे कुटिल लिपि कहा जाता था। ३. शारदा लिपि—कुटिल लिपि से शारदा लिपि का विकास हुआ। आठवी सदी तक कश्मीर और पंजाब में कुटिल लिपि प्रचलित रही। बाद में इसी से शारदा लिपि बनी। शारदा लिपि से आधुनिक अनेक लिपियां बनी हैं जिन में कश्मीरी, लंडा और गुरमुखी मुख्य हैं। ४. नागरी लिपि—इसी का नाम देवनागरी है। दक्षिण में इसे नंदिनागरी कहा जाता है। इसका भी विकास कुटिल लिपि से हुआ है। भारत में सब से अधिक प्रचलित लिपि यही है। इस से अन्य अनेक लिपियों का विकास हुआ। इस से विकसित मुख्य लिपियां गुजराती, कैथी राजस्थानी, महाजनी और बंगला हैं।[1]

दक्षिणी के अन्तर्गत मुख्य रूप से छः लिपियों की गणना की जाती

---

१. एच० एम० लैम्बर्ट ने लिखा है—

"The script used in writing Gujrati is a slightly modified form of the Devanagari script and the scripts used in writing Bengali and Punjabi are related to the Devanagri script, though this relation is apparent in only some of the characters" H. M. Lambert: Introduction to the Devanagari Script, 1953.

है—१. तमिल लिपि २. तेलुगू-कन्नड ३. ग्रन्थलिपि ४. कलिंग लिपि ५. मध्यदेशी ६. पश्चिमी ।

देवनागरी लिपि

ऊपर के विवरण से स्पष्ट ही है कि देवनागरी का विकास ब्राह्मी लिपि की उत्तरी शाखा से हुआ है। प्राचीनकाल मे इसे केवल नागरी कहा जाता था। बाद मे देव-भाषा सस्कृत के लिये भी इसी लिपि का व्यवहार होने लगा इस लिये इस का नाम भी देवनागरी रख दिया गया। दक्षिण मे इसे एक और नाम नन्दिनागरी भी दिया गया है। सम्भवतः यह किसी नंदिनगर नामक राजधानी से सम्बन्धित थी। नागरी नाम क्यो पडा ? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल कार्य नही। कुछ लोगों का विचार है कि यह नागर ब्राह्मणों की लिपि थी इसलिये इस का नाम नागरी पड़ा। ललित विस्तर मे एक नाग लिपि का वर्णन है, सम्भवतः इसी का ही परिवर्तित रूप या नाम नागरी लिपि है। ये सब सम्भावनायें हैं। पीछे कहा जा चुका है कि ब्राह्मी का विकास तान्त्रिक विधियों से माना जाता है। यह कहा जाता है कि तान्त्रिक विधियों में जिन संकेत-चिह्नो का प्रयोग किया जाता था उन्हे देवनगर कहा जाता है। उन्ही से विकसित होने के कारण लिपि का नाम देवनागरी पडा। वस्तुत; यह भी एक कल्पना है—इस का कोई प्रामाणिक आधार नहीं। यदि वस्तुतः देवनगर के आधार पर ही देवनागरी नाम पडा होता और ब्राह्मी का विकास इसी आधार पर हुआ होता तो ब्राह्मी के समय से ही इस का नाम देवनागरी होता। तथ्य यह है कि प्राचीन नाम ब्राह्मी है और बाद मे जब ब्राह्मी से क्रमिक रूप मे इस का विकास भी हुआ तो नाम देवनागरी नहीं बल्कि नागरी था। ऐसी स्थिति में इसे 'देवनगर' के साथ सम्बन्धित भी कैसे किया जा सकता है।

देवनागरी लिपि का विकास धीरे धीरे हुआ है। वैसे तो यह ईसा की १०वीं शताब्दी से व्यवहृत हो रही है परन्तु इसके प्राचीन रूप और आधुनिक रूप मे अन्तर है। प्रायः बारहवी सदी से देवनागरी का

आधुनिक रूप ही प्रचलित रहा है फिर भी दोनो मे एक दो वर्णों की दृष्टि से भिन्नता भी है ।

देवनागरी लिपि के गुण

लिपि का व्यवहार किसी विशिष्ट भाषा को स्थायी या लिखित रूप देने के लिये किया जाता है । यह तो निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि मुख से उच्चरित ध्वनिया स्थिर रहती हैं या उसी क्षण नष्ट हो जाती हैं परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बोलने के तुरन्त बाद ही वे हवा मे ऐसे विलीन हो जाती हैं कि हमारी उन तक पहुच नही हो सकती । आज तक उन्हें अपने मूल रूप में सुरक्षित रखने या स्थायी बनाने का सर्वोत्कृष्ट साधन ध्वनि अङ्कन (Recording) है परन्तु प्राचीन काल मे केवल एक ही साधन लिपि थी । आजकल भी ध्वनि अंकन सर्वसामान्य रूप मे व्यवहृत नही हो पाया इसलिये सस्ता और उपयोगी साधन लिपि है । भाषाओं की ध्वनिया अनेक हैं और लिपि की सीमायें बहुत हैं । हम कह सकते हैं कि भाषा वाचाल है और लिपि मूक । अपनी निर्धारित सीमाओं में भी लिपि को भाषा का प्रतिनिधित्व करना पडता है, उसकी सारी विशेषताओं को प्रस्फुटित करने का माध्यम बनना पडता है । स्पष्ट ही है कि वही लिपि अधिक वैज्ञानिक और अच्छी होगी जो किसी भाषा या समूह का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सके । यदि लिपि ऐसा नहीं कर सकती तो उसका अस्तित्व ही खतरे मे पड़ जायगा । दुर्भाग्य से आज के युग मे ससार मे जितनी लिपिया जानी पहचानी हैं उनमें कोई न कोई दोष अवश्य रह जाता है । परन्तु उन लिपियो के अपने विशिष्ट गुण भी होते हैं ।

जब हम देवनागरी लिपि की दृष्टि मे विचार करते हैं तो हमे उसमे अनेक ऐसी विशेषतायें उपलब्ध होती हैं जो इसका स्थान संसार की लिपियों मे अधिक महत्वपूर्ण बनाये हुए है । यह लिपि अत्यधिक वैज्ञानिक है । न केवल जिन भाषाओ के लिये इसका व्यवहार होता है उनके लिये

यह अत्यधिक उपयुक्त है बल्कि भारत की सभी भाषाओं तथा संसार की अन्य अनेक भाषाओं के लिये भी काफी उपयुक्त है। हमारे दुर्भाग्य से देवनागरी लिपि का जितना समादर इस देश मे होना चाहिये था उतना नही किया गया। यदि देवनागरी लिपि को देश की सारी भाषाओं के लिये प्रयुक्त किया जाय तो लोगों मे व्याप्त भाषा सम्बन्धी संकुचित भावना को भी दूर करने मे सहायता मिल सकती है और संसार की अन्य भाषाओं जैसे चीनी जापानी आदि द्वारा भी अपनाई जा सकती है। हमारे देश में जितनी लिपियो का व्यवहार किया जा रहा है उनमे से फारसी और रोमन लिपि को छोड़कर बाकी सब लिपियो के साथ उसका पारिवारिक सम्बन्ध है क्योंकि इन सब का मूल स्रोत ब्राह्मी लिपि है। फारसी और रोमन दोनों लिपियों की अपेक्षा देवनागरी अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक है।

भाषा की ध्वनियों का वर्गीकरण स्वर और व्यंजन की दृष्टि से किया जाता है। देवनागरी लिपि में इसी प्रकार का ही वर्गीकरण है। ऐसा वर्गीकरण न तो फारसी लिपि में है और न रोमन लिपि मे। उदाहरण के तौर पर फारसी लिपि का प्रथम वर्ण अलिफ (अ) स्वर है तो दूसरा वर्ण वे (ब) व्यंजन। 'अ' स्वर के बाद 'ब' व्यंजन होने का कोई वैज्ञानिक कारण नही हो सकता। रोमन लिपि की भी यही स्थिति है। 'ए' (अ) के बाद बी (ब) का कोई युक्तिसंगत आधार नही।

देवनागरी लिपि मे केवल स्वर और व्यंजन की दृष्टि से ही वैज्ञानिक वर्गीकरण नही दिखाई देता बल्कि प्रत्येक ध्वनि यथास्थान रखी गई है। नीचे दिये हुए देवनागरी लिपि के स्वरूप से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

स्वर

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ

स्पष्ट ही है कि परस्पर सम्बद्ध स्वर ध्वनियो को एक दूसरे के साथ साथ रखा हुआ है। यही बात व्यंजनों के वर्गीकरण मे दिखाई देती है। सभी ध्वनियों को स्थान की दृष्टि से विभाजित किया हुआ है।

व्यञ्जन

कंठ्य — क ख ग घ ङ
तालव्य — च छ ज झ ञ
मूर्धन्य — ट ठ ड ढ ण
दन्त्य — त थ द ध न
ओष्ठ्य — प फ ब भ म
अन्तःस्थ— य र ल व
ऊष्म — श ष स ह

इनके अतिरिक्त तीन संयुक्त वर्ण और भी हैं—क्ष, त्र और ज्ञ। यदि हम इन व्यंजन ध्वनियों के क्रम की ओर ध्यान दें तो वह भी पूर्णतया वैज्ञानिक है। अघोष और सघोष का क्रम निभाया गया है। पहले अल्पप्राण ध्वनियां हैं फिर महाप्राण। अन्त में अनुनासिक ध्वनियां दी हुई हैं। अन्तःस्थ और ऊष्म ध्वनियों को पृथक् वर्ग में रखा गया है। इतना वैज्ञानिक वर्गीकरण फारसी या रोमन लिपि में देखने को नहीं मिलता।

यदि हम भारतीय भाषाओं की दृष्टि से देखें तो अधिकांश रूप में इनका मूल प्रेरणा-स्रोत संस्कृत भाषा है। संस्कृत का सारा वाङ्मय इसी लिपि में है इसलिये भारतीय भाषाओं की दृष्टि से इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। फ़ारसी या रोमन लिपि उसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकती।

भारतीय भाषाओं की दृष्टि से फ़ारसी और रोमन लिपि में अनेक भ्रामक ध्वनियां हैं परन्तु देवनागरी लिपि में यह बात नहीं है। सबसे मुख्य बात तो यह कि एक ध्वनि के लिये एक वर्ण है दो नहीं। उर्दू के लिये प्रयुक्त फ़ारसी लिपि में यह विशेषता नहीं है। उर्दू की फारसी लिपि में 'स्' ध्वनि के लिये तीन वर्ण हैं—१. से २. सीन और ३. स्वाद। 'ज़' ध्वनि के लिये चार वर्ण हैं—१. ज़ाल २. ज़े ३. ज़ोय ४. ज़्वाद। 'त्' ध्वनि के लिये दो वर्ण हैं—१. ते और २. तोय। 'ह्'

वह सर्वथा भिन्न था परन्तु आधुनिक युग की दृष्टि से ये वर्ण फालतू प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार व्यञ्जन ध्वनियों में मूर्धन्य 'ष' सर्वथा फालतू ध्वनि प्रतीत होती है। आजकल इसका उच्चारण या तो 'श्' रूप में होता या 'ख्' रूप में इसलिये स्वतन्त्र वर्ण की दृष्टि से इसकी कोई आवश्यकता नहीं। अनुनासिक वर्णों में भी ङ् और ञ् लगभग फालतू माने जाते हैं क्योंकि प्रायः ये संयुक्ताक्षरों में हलन्त रूप में प्रयुक्त होते हैं और य कार्य अनुस्वार चिन्ह ‿ द्वारा चलाया जा सकता है।

दूसरे वर्ग के दोषों में कुछ दोष ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध मूल वर्णों साथ है और कुछ दोष ऐसे भी हैं जिन का सम्बन्ध मात्राओं के साथ है कुछेक दोषों का सम्बन्ध संयुक्ताक्षरों के साथ भी है। मूल वर्णों की दृष्टि से कुछेक दोष इस प्रकार है—(१) उच्चारण की दृष्टि से 'व' ध्वनि दो हैं। एक द्व्योष्ठ्य है और दूसरी दन्त्योष्ठ्य। इनके लिये रोमन लिपि में क्रमशः दो चिन्ह w (डबल्यू) और v (वी) हैं परन्तु देवनागरी में केवल एक लिपि चिह्न है। (२) कुछ वर्ण ऐसे हैं जिनके दो दो रूप प्रचलित हैं जैसे—अ और अ, ण और ण तथा ल और ल (३) 'ख' वर्ण के सम्बन्ध में भ्रान्ति होजाती है क्योंकि इसे रव भी पढ़ा जा सकता है। (४) जिन भाषाओं के लिये देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाता है उन भाषाओं में कुछ ध्वनिया तो है परन्तु उनके लिये देवनागरी लिपि में वर्ण नहीं है। पीछे हिन्दी की ध्वनियों में इ और उ के दो-दो रूप, 'ए' के पांच रूप तथा 'ओ' के चार रूप बताये हैं इनके लिये देवनागरी लिपि में केवल एक एक वर्ण ही है। अंग्रेजी प्रभाव के कारण ऑ ध्वनि का प्रयोग किया जाता है परन्तु उसके लिये भी कोई वर्ण नहीं। इसी प्रकार न्ह्, म्ह्, र्ह् और ल्ह् के लिये कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं है जबकि ये संयुक्त ध्वनियां न होकर मूल ध्वनिया हैं। जैसे क, च, ग, ज आदि का महाप्राणरूप ख, छ, घ, झ आदि हैं उसी प्रकार न्ह्, म्ह्, र्ह् और ल्ह् ध्वनिया भी क्रमशः न्, म्, र् और ल् का महाप्राण रूप हैं। इनके लिये स्वतन्त्र वर्ण होने चाहिये।

मात्रा की दृष्टि से 'इ' की मात्रा सर्वथा अवैज्ञानिक है। जिसका उच्चारण पहले हो उसका लिपि में पहले प्रयोग होना चाहिये और जिसका उच्चारण बाद में हो उसका प्रयोग लिपि मे बाद में होना चाहिये। यह भी लिपि के वैज्ञानिक होने का एक नियम है। यह नियम देवनागरी लिपि की 'इ' मात्रा पर लागू नही हो रहा क्योकि इसका प्रयोग उच्चरित वर्ण से पहले होता है, जैसे—'क्+इ' के लिये 'कि' लिखा जाता है जो ठीक नही। इसी प्रकार उ, ऊ, ए और ऐ स्वर-ध्वनियो की मात्राओ का प्रयोग नीचे और ऊपर किया जाता है। इन ध्वनियो का उच्चारण ध्वनियो के साथ साथ नही होता बल्कि बाद मे होता है। इस लिये इनका प्रयोग भी अवैज्ञानिक है।

संयुक्त वर्णों की दृष्टि से देवनागरी लिपि अत्यन्त जटिल है। इसी कारण लगभग सभी व्यञ्जन ध्वनियो के दो दो रूप हैं। कुछेक ध्वनियो में तो जटिलता और भी अधिक है। 'र्' या 'र' ध्वनि के संयुक्त वर्णों मे तीन रूप हैं—्र, ै और ् । ऋ मे इसका रूप और भी बदल जाता है। क्ष, त्र, ज्ञ वस्तुतः संयुक्त ध्वनियां हैं। इनका मूल ध्वनियो जैसा रूप होना भी लिपि के लिये उचित नही समझा जा सका।

देवनागरी लिपि आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार सरल नही है। इसकी वर्णमाला बहुत बड़ी है। इसके अतिरिक्त मात्रायें और संयुक्त वर्ण भी हैं।

लिपि सुधार

देवनागरी लिपि मे कुछ वैज्ञानिक विशेषतायें हैं तो कुछ दोष भी। देवनागरी लिपि के विरोधी लोगो का ध्यान उसके दोषो की ओर ही जाता है उसकी वैज्ञानिक विशेषताओं की ओर नही। फारसी लिपि के अत्यधिक अवैज्ञानिक होने के कारण उस ओर तो लोगो का ध्यान नही जाता परन्तु कुछ लोग रोमन लिपि के पक्षपाती अवश्य हैं। इस मे कोई सन्देह नही कि रोमन लिपि की अपनी विशेषतायें है। यह लिपि देवनागरी के समान

अक्षरात्मक न हो कर वर्णात्मक है। विकास की दृष्टि से यह देवनागरी से एक कदम आगे है परन्तु इसमे भी अनेक दोष हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। डा. सुनीति कुमार चॅटर्जी रोमन लिपि के पक्षपाती हैं। वे इसके दोषो का निराकरण कुछ विशेष चिह्नों द्वारा करके एक प्रकार की भारतीय रोमन लिपि (Indo-Roman) चाहते है।[1] उनकी बनाई हुई लिपि का आदर्श रूप निम्नलिखित है –

स्वर

a	a:	i	i:	u	u:
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ
r˙	r˙	l;	e: (e)	o: (o)	
ऋ	ॠ	लृ	ए	ओ	
ai	au	am	ah		
ऐ	औ	अं	अः		

व्यजन

k	kh	g	gh	n˙
क	ख	ग	घ	ङ
c	ch	j	jh	n′
च	छ	ज	झ	ञ
t'	t'h	d'	d'h	n'
ट	ठ	ड	ढ	ण
t	th	d	dh	n
त	थ	द	ध	न
p	ph	b	bh	m
प	फ	ब	भ	म

1. Indo Aryan and Hindi.

y	r	l	w	(v)		
य	र	ल	व			
s′	s’	s	h			
श	ष	स	ह			
l’	n,	f	z	z′	x	q
ळ	ं	फ	ज़	झ़	ख़	क़

डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने जब रोमन लिपि का सुझाव दिया था। उस समय हिन्दी और उर्दू तथा देवनागरी और फारसी लिपि का झगडा चल रहा था। भाषा की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू के समन्वित रूप हिन्दुस्तानी को अपनाया गया और लिपि की दृष्टि से हिन्दुस्तानी के लिये दोनों लिपियां मान्य समझी गई। कोई ऐसा तरीका तो था नही जिससे भाषा के समान एक खिचडी लिपि का आविष्कार किया जाता इसलिये देवनागरी और फ़ारसी दोनो लिपियो को छोडकर तीसरी लिपि की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। आज लिपि सम्बन्धी वैसी राजनैतिक समस्या नहीं है जैसी स्वतन्त्रता से पूर्व थी। अब तो शुद्ध लिपि सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है। डा० चैटर्जी ने जिस रोमन लिपि का सुझाव दिया है उसे रोमन लिपि मे अनेक परिवर्तन या सुधार करके ही अपनाया जा सकता है। देवनागरी जैसी सुन्दर, वैज्ञानिक और भारतीय भाषाओं के अत्यन्त उपयुक्त लिपि के होते हुए भी एक विदेशी लिपि को अपनाना ठीक प्रतीत नही होता। हा, इतनी बात अवश्य मानी जानी चाहिये कि देवनागरी लिपि मे जहा जहा सुधार सम्भव हो वहा वहा अवश्य करना चाहिये। अधिकाश विद्वान् देवनागरी लिपि मे सुधार कर इसे ही अपनाने के पक्षपाती हैं। ऐसे भी विद्वान् है जो परम्परा प्राप्त लिपि के स्वाभाविक विकास को मानते हुए उसके स्वरूप को कृत्रिम रूप मे बदलना ठीक नही समझते। वस्तुत: उनकी बात ठीक है क्योंकि किसी भी लिपि मे अपना विशाल वाङ्मय होता है। लिपि मे परिवर्तन करने मे आगामी पीढ़ी का सम्बन्ध पिछली पीढ़ी से टूट जाता है। इसलिये

आवश्यकता इस बात की है कि लिपि में कुछ सीमा तक ही सुधार किये जायें। लिपि के सारे ढांचे को बदल देना ठीक नहीं।

लिपि सुधार सम्बन्धी जो ठोस सुझाव दिये गये हैं उनमें से एक सुझाव काका कालेलकर का भी है। उनके अनुसार स्वरों की संख्या कम करने का एक अच्छा उपाय यह है कि 'अ' वर्ण के साथ अन्य मात्रायें जोड़कर काम चला लिया जाय। इस प्रकार 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ' आदि वर्णों की कोई आवश्यकता न रहेगी। उनके अनुसार स्वरों का रूप निम्नलिखित होना चाहिये—

अ आ अि अी अु अू अे अै ओ औ अं अः

वे 'ऋ' वर्ण की कोई आवश्यकता नहीं समझते। इस प्रकार स्वर ध्वनियों की दृष्टि से केवल एक वर्ण और ग्यारह मात्राओं की आवश्यकता होगी।

उन्होंने व्यञ्जनों की संख्या कम करने के लिये भी एक सुझाव दिया है। उनका कहना है कि सभी महाप्राण वर्णों (ख, घ, छ, झ आदि) को लिपि में निकाल देना चाहिये। उनके स्थान पर क्, ग् आदि के हलन्त रूप के साथ 'ह्' का प्रयोग करके उनसे काम ले लेना चाहिये। जैसे—क्ह (ख), ग्ह (घ), च्ह (छ) आदि। इसके अतिरिक्त ङ, ञ, ण, ष, क्ष, त्र और ज्ञ की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार केवल निम्नलिखित व्यञ्जन वर्ण ही रह जायेंगे—

क ग च ज ट ड त द न प ब म य र ल व श स ह

इसमें कोई सन्देह नहीं कि काका कालेलकर ने लिपि-सुधार के जो सुझाव दिये हैं उनसे लिपि-सम्बन्धी कई कठिनाइयां दूर हो जाती हैं, वर्णमाला भी काफी छोटी हो जाती है परन्तु इसमें लिपि में इतना अधिक परिवर्तन होजाता है कि उसका सारा का सारा ढांचा बदल जाता है। इस लिपि का प्रयोग हरिजन तथा अन्य प्रचारात्मक साहित्य के लिये किया गया परन्तु यह लिपि लोकप्रिय नहीं हो पाई। सामान्य तौर पर इसका अधिक प्रचार नहीं हो पाया है।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी और हिन्दी-साहित्यसम्मेलन का भी इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ है। उन्होंने भी लिपि के सम्बन्ध में कुछ सुझाव तैयार किये थे। अनेक विद्वान् भी समय २ पर इस प्रश्न पर विचार करते रहते हैं कुछ लोगों का ध्यान देवनागरी लिपि में यान्त्रिक (टाइपराइटर, टेलीप्रिन्टर आदि) दृष्टि से परिवर्तन करने की ओर जाता है तो कुछ लोग लिखने में शीघ्रता लाने की बातें सोचा करते हैं। कुछ लोगों का विचार यह है कि मात्राओं का प्रयोग छोड़ दिया जाय, उनके स्थान पर स्वर-वर्ण का ही प्रयोग किया जाय। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि देवनागरी लिपि के वर्णों पर शिरोरेखा की कोई आवश्यकता नहीं इसलिये उसका प्रयोग न किया जाय। कई ऐसे सुझाव भी दिये जाते हैं जो अव्यावहारिक और अस्वाभाविक होते हैं।

लिपि-सुधार की ओर उत्तरप्रदेश सरकार का ध्यान भी आकर्षित हुआ। आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक लिपि-सुधार समिति बनाई गई इसको प्रायः नरेन्द्रदेव समिति कहा जाता है। इस समिति ने काफी विचार-विमर्श के बाद कुछ सुझाव दिये जो निम्नलिखित हैं।

आचार्य नरेन्द्रदेव समिति द्वारा सुझाई हुई लिपि की वर्णमाला इस प्रकार है—

स्वर

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ अं अः। =१५ स्वर

व्यञ्जन

क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न
प फ ब भ म

य र ल व
श ष स ह
क्ष ज्ञ ळ =३६ व्यञ्जन

मात्रायें

ा, ि, ी, ु, ू, ृ, े, ै, ो, ौ, ं, ः - =१२ मात्रायें

संयुक्त व्यञ्जन

(१) संयुक्त व्यञ्जनों में वर्णों को ऊपर नीचे न लिख कर बगल बगल लिखा जाय। जैसे—क्क,च्च, ट्ट आदि।

(२) 'त्र' और 'त्त' के स्थान पर क्रमश: त्र और त्त रूप होने चाहियें। 'त्' के बहुत छोटे रूप को छोड़ दिया जाय।

(३) 'र' के अनेक रूपों को छोड़ कर केवल 'र्' और 'र' रूप को ही अपनाया जाय। इस प्रकार कर्म के स्थान पर करम, क्रम के स्थान पर करम तथा ड्राइंग के स्थान पर ड्राइंग लिखा जाय।

(४) अनुनासिक स्वर की शिरोरेखा पर बिन्दु का प्रयोग हो—ं और अनुनासिक व्यञ्जनों ङ ञ ण न म केलिये शिरोरेखा पर शून्य (॰) चिन्ह का प्रयोग किया जाय।

(५) सभी खड़ी पाई वाले व्यञ्जनों की पाई हटाकर उन्हें हलन्त बनाया जाय। जिन व्यञ्जनों में खड़ी पाई नहीं है उनके नीचे हल्-चिन्ह लगाकर उन्हें हलन्त बनाया जाये। इन के अतिरिक्त यदि व्यंजनों के कुछ अन्य रूप प्रचलित हों तो उन्हें व्यवहार में न लाया जाये। जैसे प्+त =प्त; द्+य=द्य (इस के 'द्य' रूप को न अपनाया जाये) 'फ्' और 'क्' के क्रमश: प और क रूप ही रहने दिये जायें।

अन्य सुझाव

(१) वर्णों पर शिरोरेखा के प्रयोग को रहने दिया जाये।

(२) जिन वर्णों के दो दो रूप प्रचलित हैं उनके स्थान पर केवल एक ही रूप को मान्य ठहराया गया। ये रूप इस प्रकार हैं—अ, छ, झ, ण, ल, ध आदि।

(३) 'ख' और 'रव' की भ्रान्ति को दूर करने के लिये 'ख' मे कुछ परिवर्तन कर दिया जाये यानी ख की पहली लकीर को आगे की पाई के साथ मिला दिया जाये। ध और भ मे थोडा सा परिवर्तन कर दिया गया। ताकि घ और म का भ्रम न हो।

(४) देवनागरी मे जो नई या विदेशी ध्वनियो का प्रयोग हो तो उन के लिये उच्चारण-सूचक चिह्नो (Diacritical marks) का प्रयोग किया जाये।

(५) यान्त्रिक सुविधाओ को दृष्टिगत रखते हुये यह सुझाव भी दिया गया कि मात्राओ का प्रयोग वर्ण के ऊपर नीचे न करके वर्ण से थोडा आगे हटाकर किया जाये। जैसे 'कूडा' के स्थान पर क ू डा आदि।

सन् १९५३ मे पहला सम्मेलन लखनऊ में बुलाया गया जिस मे आचार्य नरेन्द्र देव समिति के सुझावो पर विचार किया गया और इन्हें बाद मे छपने वाली सभी पुस्तको मे अपनाने के लिये आदेश भी दे दियेगए। परिणामस्वरूप प्राथमिक पुस्तको को इन सुझावों के अनुसार बदल दिया गया। लखनऊ सम्मेलन में जो निश्चय किए गए वे भारत सरकार को भी सूचित किए गए। भारत सरकार ने सन् १९५५ मे इन निश्चयो को स्वीकार कर लिया। परन्तु यह बात स्मरणीय है कि इन निश्चयो के अनुसार क्रियात्मक कदम केवल उत्तर प्रदेश मे उठाए गए अन्यत्र नही।

उत्तर प्रदेश मे इन सुझावो के क्रियान्वित होते ही इन पर टीका-टिप्पणी होने लगी। अधिकांश रूप मे इन सुझावों की निन्दा की गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि देवनागरी लिपि के सम्बन्ध मे बहुत कुछ भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयत्न किया गया और विहगम दृष्टि से देखने पर लिपि सम्बन्धी परिवर्तन कुछ अधिक क्रांतिकारी भी नही

दिखाई देने परन्तु व्यवहार मे अनेक प्रकार की कठिनाइयां उठने लगीं। बहुत से लोग तो इस लिपि को लगड़ा लिपि कहने लगे। वस्तुतः इस परिष्कृत लिपि मे अनेक दोष हैं। मूल देवनागरी लिपि के जो दोष दिखाये गये है उनमें से केवल एक दोष (ि मात्रा के पहले लगाने) । निवारण किया गया है। बाकी सब दोष ज्यो के त्यो बने हुए हैं।

स्वरो के सम्बन्ध मे यह बात विचारणीय है कि ऋ, ॠ और ऌ का उच्चारण नही होता तो इन्हें अपनाने की क्या आवश्यकता है? यदि ऋ वर्ण को रहने भी दिया जाय तो कम से कम ॠ और ऌ की कोई आवश्यकता नही। वर्णमाला को छोटी करने के स्थान पर अनावश्यक तौर पर बढाने का निश्चय विचित्र दिखाई देता है।

इसी प्रकार व्यञ्जनों मे भी 'ञ' और 'ण' वर्णों को रहने दिया गया है। 'र' मे एकरूपता लाने की बात सैद्धान्तिक तौर पर तो सरल दिखाई देती है परन्तु व्यवहार मे इसके कारण लिपि का स्वरूप इतना बदल जाता है कि वह अत्यन्त विचित्र दिखाई देने लगती है। मराठी भाषा मे प्रयुक्त होने के कारण ळ के अस्तित्व की बात तो समझ मे आती है परन्तु क्ष और ज्ञ की क्या आवश्यकता है—यह समझ मे नहीं आता।

मात्राओ की दृष्टि से केवल एक ही परिवर्तन किया गया है अर्थात् 'इ' की मात्रा बाईं ओर न लगाकर दाईं ओर लगाई जाय तथा उसका आकार 'ई' की मात्रा से छोटा कर दिया जाय। यह परिवर्तन भी बड़ा हल्का दिखाई देता है। परन्तु इसके कारण 'इ' और 'ई' की मात्राओं मे काफी भ्रान्ति होने की आशका बनी रहती है।

इस लिपि के सम्बन्ध मे एक और बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि हिंदी मे 'ड़' और 'ढ़' ध्वनियो का काफी प्रयोग होता है तथापि इस लिपि मे इनके लिये कोई वर्ण नहीं है।

उत्तरप्रदेश की सरकार के पास इस लिपि की अनेक शिकायतें पहुंचने लगीं। जनता इस नई लिपि मे बहुत परेशान हो गई। परिणामस्वरूप

उत्तरप्रदेश सरकार की ओर से लखनऊ में हीं १९-२० अक्तूबर १९५७ को एक नया सम्मेलन बुलाया गया कि रेफ और ट की मात्रा सम्बन्धी जो सुझाव दिये गये हैं उन्हें रद्द कर दिया जाय क्योंकि अधिकांश आलोचना इन्हीं के सम्बन्ध में होती थी।

लिपि का प्रश्न अखिलभारतीय है। इसे केवल उत्तरप्रदेश का प्रश्न मान कर उसी क्षेत्र तक सीमित रखना ठीक नहीं। सन् १९५३ में जो सम्मेलन हुआ था उस में अन्य राज्यों के प्रतिनिधि और शिक्षा शास्त्री भी सम्मिलित हुए थे परन्तु सन १९५७ के सम्मेलन में केवल उत्तरप्रदेश के ही प्रतिनिधि थे। इस में भारत-सरकार या अन्य राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए थे। सन् १९५७ के सम्मेलन में किये गये निश्चय के अनुसार एक नई स्थिति पैदा हो गई। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। ८-९ अगस्त १९५९ में नई दिल्ली में शिक्षा-मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ। इससे चार दिन पूर्व नई दिल्ली में ही एक विशेषज्ञ समिति बुलाई गई। इसने सन् १९५३ और १९५७ के सुझावों विचार किया तथा कुछ अपने सुझाव दिये। इन सुझावों पर शिक्षामन्त्रियों के सम्मेलन में विचार किया गया और उन्हें अपना लिया गया। शिक्षामन्त्रियों के सम्मेलन में किये गये निश्चय निम्नलिखित थे—

(१) छोटी 'इ' की मात्रा और रेफ के विभिन्न रूपों में कोई परिवर्तन न किया जाय।

(२) ऋ और ऌ को वर्णमाला में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(३) 'ड़' और 'ढ़' वर्णों को भी वर्णमाला में सम्मिलित कर लिया जाय।

(४) 'श्री' के मूल रूप को ही रहने दिया जाय। उसे 'स्री' रूप में न लिखा जाय।

इनके अतिरिक्त सन् १९५३ के लखनऊ सम्मेलन के अन्य सभी निर्णयों को स्वीकार कर लिया गया। प्रयोगन की दृष्टि से लिपि के

(ii) The Sanskrit Language.

Caldwell : Comparative Grammar of the Dravidian Languages.

Carroll, John B. : The Study of Language.

Chatterji, Suniti Kumar : (i) Origin and Development of the Bengali Language.

(ii) A Bengali Phonetic Reader.

(iii) Indo-Aryan and Hindi.

Chavarria-Aguilar, Oscar Luis : Lectures in Linguistics.

Delbruck : Comparative Syntax.

Diringer, David : The Alphabet, a Key to the History of Mankind

Ghatage, A. M. : An Introduction to Ardha-Magadhi.

Gleason, H. A. Jr. : (i) An Introduction to Descriptive Linguistics, 1955.

(ii) Work-book in Descriptive Linguistics, 1955.

Gray, L. H. : Indo-Iranian Phonlogy.

Greeves, Edwin : Hindi Grammar.

Greenberg, Joseph H. : Essays in Linguistics, 1957.

Grierson, George Abraham : (i) Modern Indo-Aryan Vernaculars.

(ii) Linguistic Survey of India.

(iii) Seven Grammars of the Dialects and Sub-dialects of the Bihari.

Gune, P. D. : An Introduction to Comparative Philology.

Harris, Zellig S. : Methods in Structural Linguistics, 1958.

Heffner, R. M. S. : General Phonetics, 1950.

Hockett, C. F. : (i) A Course in Modern Linguistics, 1958.

(ii) A Manual of Phonology, 1955.

Hoenigswald, H. M. : (i) Spoken Hindustani 2 Vols.

(ii) Language Change and Linguistic Reconstruction, 19 0.

Hoernle, A. F. G. : A Comparative Gramm·r of the Gaudian Languages.

Harley, A. H. : Colloquial Hindustani.

Hudson-Williams, T. : A Short Introduction to the Study of Comparative Grammar (Indo-European).

Jain, Bererasi Dass : (*i*) Phonology of Panjabi.

(*ii*) A Ludhiani Phonetic Reader.

Jesperson, Otto : (*i*) Language: Its Nature, Development and Origin.

(*ii*) Analytic Syntax.

(*iii*) Philosophy of Grammar.

Jones, Daniel : The Phoneme: its Nature and Use.

Joos, Martin : (*i*) Readings in Linguistics, 1957.

(*ii*) Acoustic Phonetics.

Katre, S. M. : Prakrit Languages and their Contribution to Indian Culture.

Kellogg, Rev. S. H. : A Grammar of the Hindi Language.

Kent, R. G. : Old Persian Grammar, Texts.

Lambert, H. M. : Introduction to the Devanagari Script, 1953.

Lyall, C. J. : Sketch of the Hindustani Language.

Lehmann, W. P. : Proto-Indo-European Phonology.

Macdonell, A. A. : Vedic Grammar.

Max Muller, F. : Science of Language.

Mehendale, M. A. : Historical Grammar of Inscriptional Prakrit.

Misra, Jaya kant : A History of Maithili Literature.

Nida, E. A. : (*i*) Morphology.

(*ii*) Outline of Descriptive Syntax.

Pei, Mario A. : The Story of Language.

Pei, Mario A. and Gaynor : Dictionary of Linguistics.

Pike, K. L. : (*i*) Phonetics.

(*ii*) Phonemics.

(iii) Tone Languages.

Saksena, Babu Ram : The Evolution of Avadhi.

Sapir, Edward : Language.

Sen, Dinesh Chandra : An Introduction to Prakrit Grammar.

Sen, Sukumar : (i) Comparative Grammar of Middle Indo-Aryan.

(ii) Historical Syntax of Middle Indo-Aryan.

(iii) Old Persion Inscriptions.

Sturtevant, Edgar H. : (i) An Introduction to Linguistic Science.

(ii) Linguistic Change.

(iii) Indo-Hittite Laryngeals.

(iv) A Comparative Grammar of the Hittite Language, 1951.

(v) The Pronunciation of Greek and Latin.

Sweet, Henry : A Hand-book of Phonetics.

Tagare : Historical Grammar of Apabhramsa.

Taraporewala, I.J.S. : Elements of the Science of Language.

Tessitory, L. P. : Notes on the Grammar of Old Western Rajasthani in the Indian Antiquary, 1914-16.

Tucker, F. G. : Introduction to Natural History of Language.

Vendreyes, Joseph : Language.

Willis, George : The Philosophy of Speech.

Woolner, A. : Introduction to Prakrit.

Whitney, W. D. : (i) Sanskrit Grammar.

(ii) Language and the Study of Language.

अंग्रेज़ी पत्रिकायें

1. Indian Linguistics : Journal of the Linguistic Society of India.
2. International Journal of American Linguistics.
3. Language, Quarterly.
4. Word, Quarterly.

हिंदी

उदयनारायण तिवारी : १. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास।
२. भोजपुरी भाषा और साहित्य

कामता प्रसाद गुरु : हिन्दी व्याकरण

किशोरीदास वाजपेयी : १. हिन्दी शब्दानुशासन
२. भारतीय भाषा विज्ञान
३. ब्रज भाषा का व्याकरण

जनार्दन भट्ट : अशोक के धर्मलेख

गौरीशंकर हीरा चन्द ओझा . प्राचीन लिपि माला

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन : भारत का भाषा सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १
अनुवादक उदयनारायण तिवारी, प्रथम संस्करण, १९५९

जगदीश कश्यप : पालि महाव्याकरण

धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास
ब्रज भाषा
नागरी अंक और अक्षर

बाबू राम सक्सेना १. सामान्य भाषा विज्ञान
२. दक्खिनी हिन्दी
३. अर्थ विज्ञान

मंगल देव शास्त्री : भाषा विज्ञान

विधुशेखर शास्त्री : संस्कृत का वैज्ञानिक अनुशीलन

श्यामसुन्दर दास १. हिन्दी भाषा
२. भाषा विज्ञान

सरयू प्रसाद अग्रवाल १. भाषा विज्ञान और हिन्दी
२. प्राकृत विमर्श

सुनीतिकुमार चैटर्जी : १. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, हिन्दी संस्करण १९५७
२. राजस्थानी भाषा
३ भारत की भाषायें और भाषा सम्बन्धी समस्यायें

हिन्दी पत्रिकायें

१. साहित्य सन्देश
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका

संस्कृत

पाणिनि : अष्टाध्यायी
पतञ्जलि : महाभाष्य
मार्कण्डेय . प्राकृत सर्वस्व
यास्क : निरुक्त
वररुचि : प्राकृत प्रकाश
हेमचन्द्र : (१) सिद्ध हेमचन्द्र
(२) प्राकृतव्याकरण
(३) देशीनाममाला